अति प्रगतिशील

पश्चिम की सस्ती नक़ल

बाजार की नर्त्तकी

घर की बहू

ज़माने के रंग

भूत

भविष्य

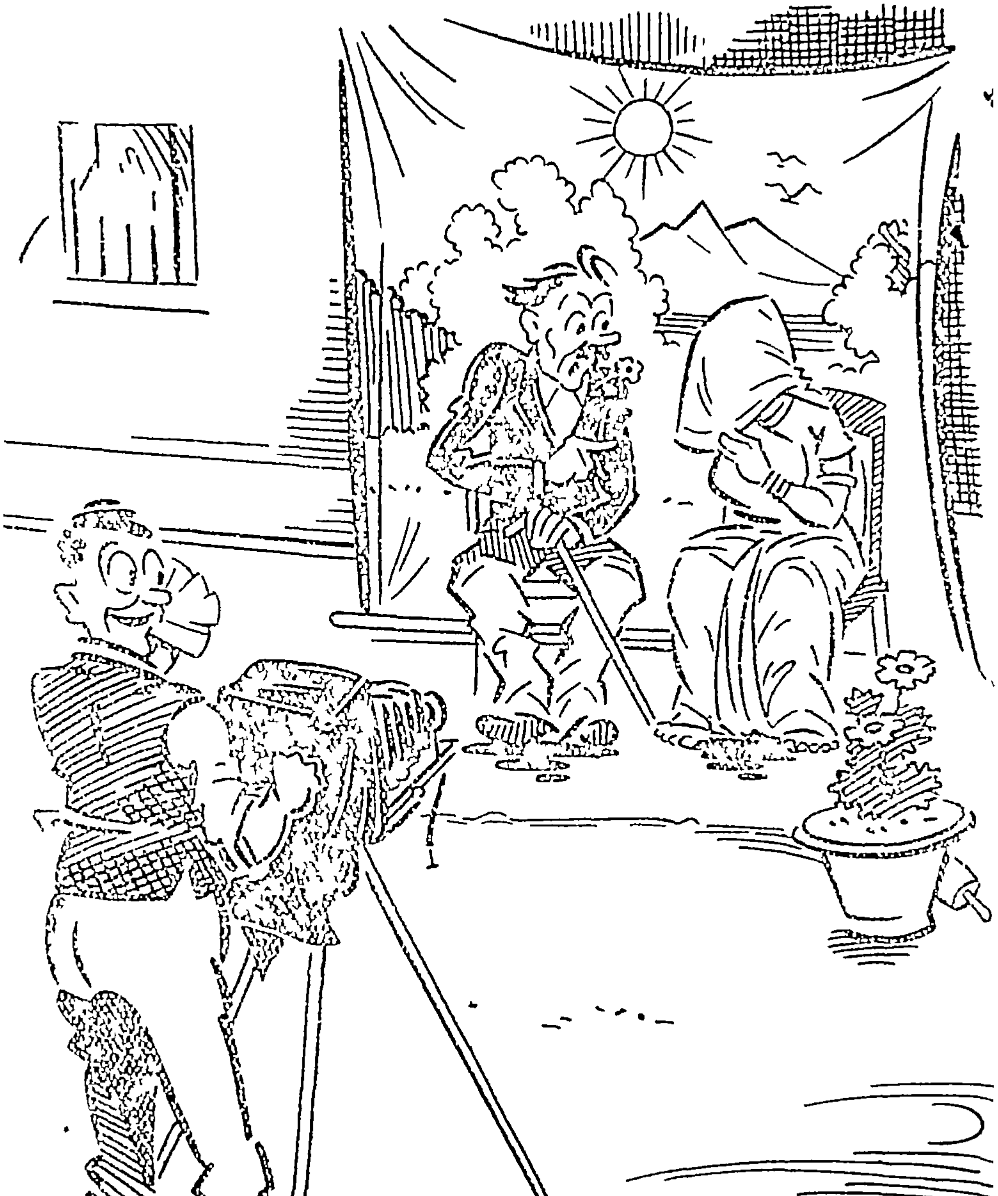

आरम्भ : उन्नति करो

श्रीमतीजी

रचयिता

श्री शिक्षार्थी

लेखक द्वारा चित्रित

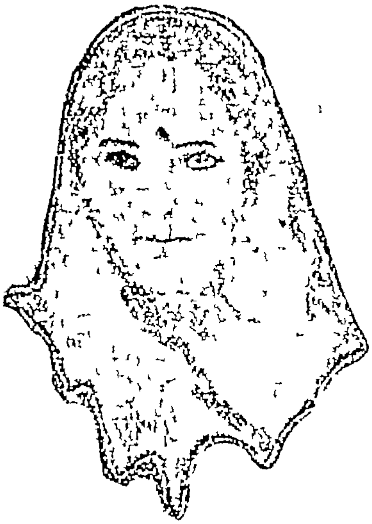

श्रीमतीजी को, इसलिए
कि पुस्तक मे और
कही इनका चित्र
देने का अवसर
नहीं मिला।

—[illegible]

भूमिका

मत रो मुन्ना !

"अम्मा दफ्तल नईं गई एँ !"

अन्त : समानाधिकार दो

(१)

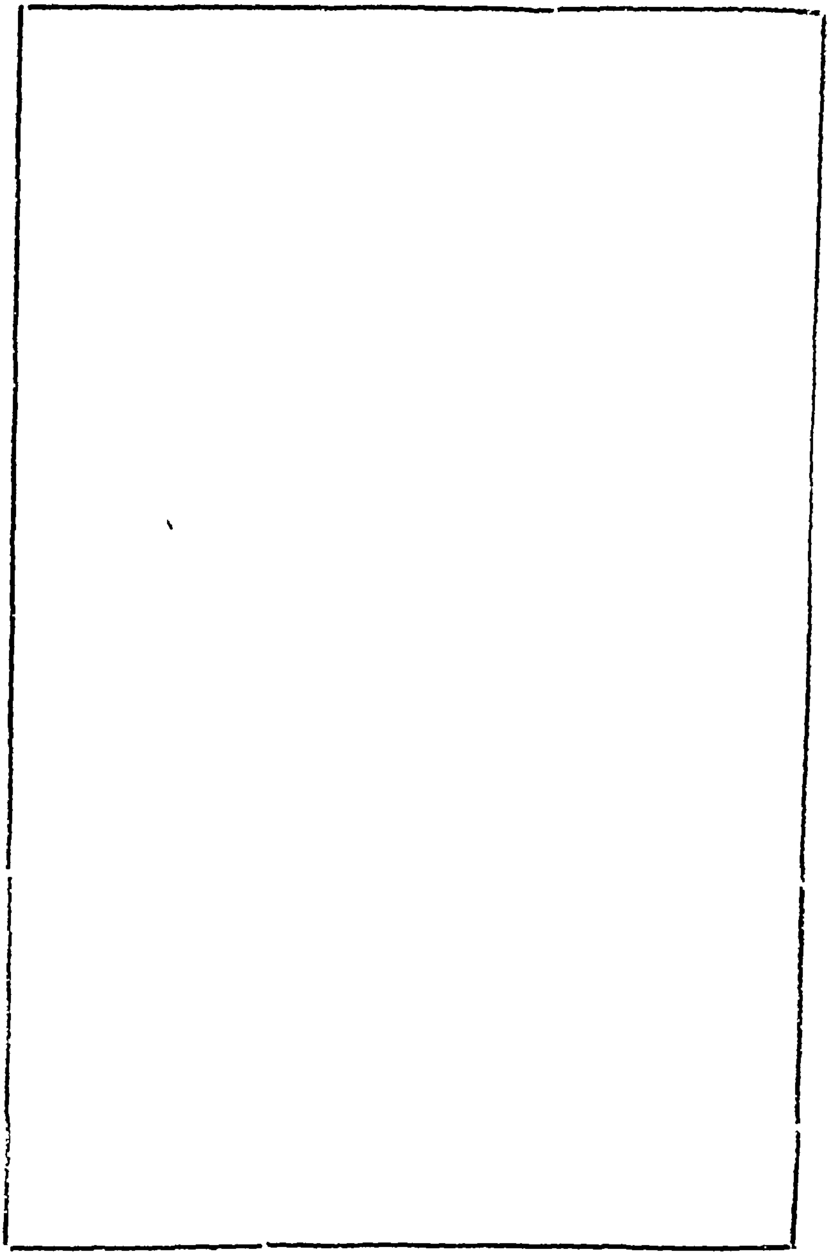

स्वप्न—

(चित्र ध्यान से देखें।)

(२)

—सत्य

सामञ्जस्य

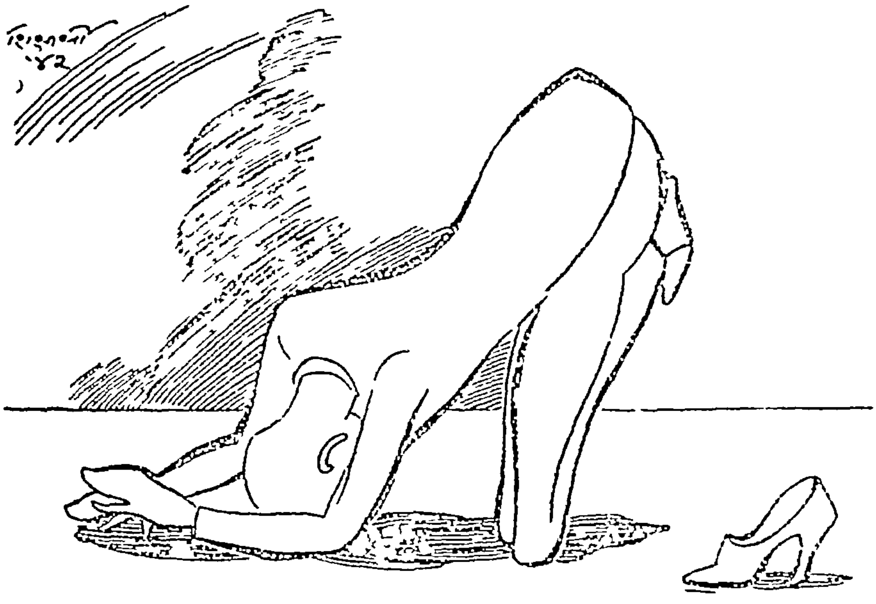

सौन्दर्योपासना : दो चरण-सेवक

श्रीमतीजी

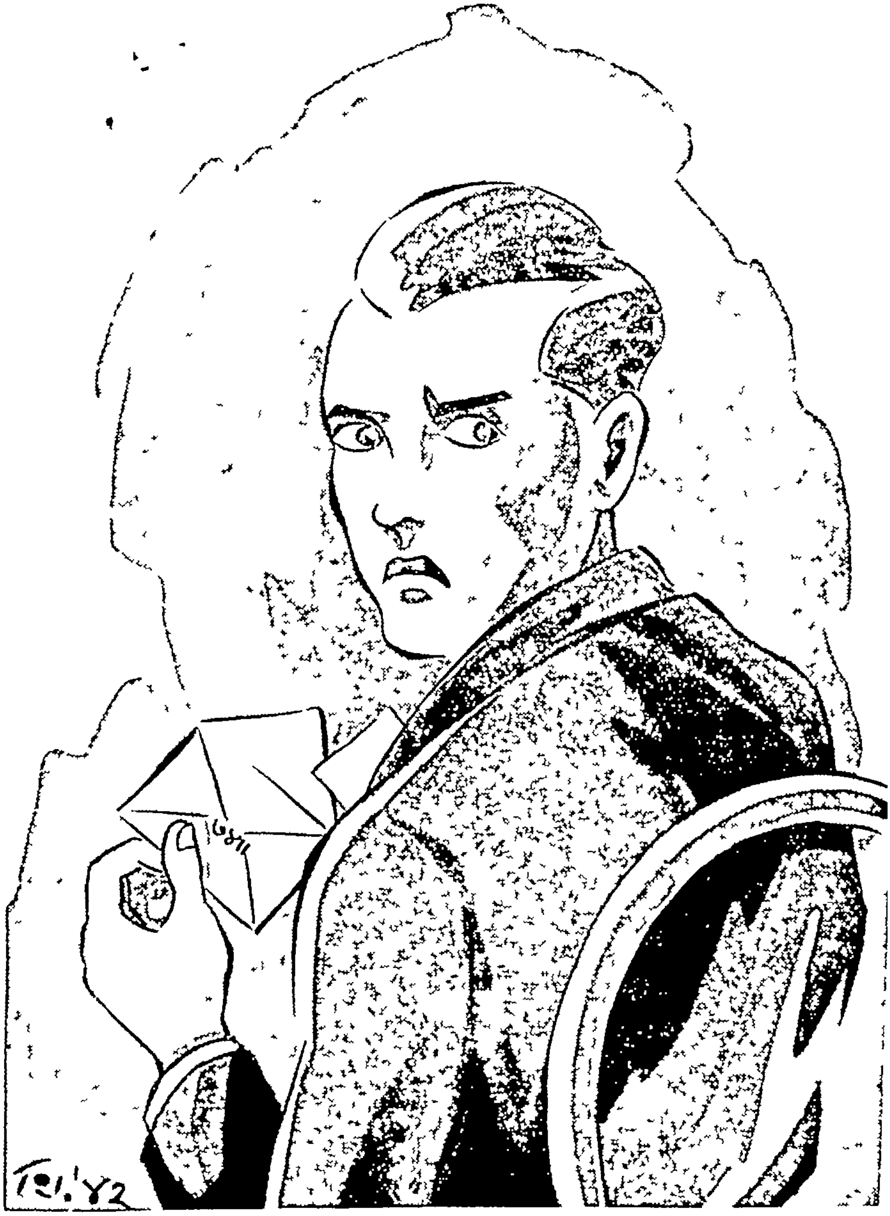

'इधर मैंने जल्दी से लिफ़ाफ़ा और पत्र निकाला, कंधे के पीछे देखकर चटपट पत्र को लिफ़ाफ़े में रखा ' ...

—पृष्ठ ४२

श्रीमतीजी

पालतू पति

पुरुष को जोरू का गुलाम होना पसन्द हो तो हो; स्त्री को गुलाम की जोरू होना पसन्द नहीं!

इसे सौभाग्य कहिए, या दुर्भाग्य (पाठिकाएँ पहला ठीक मानेंगी, और पाठक बाद वाला) कि उन दिनो मै निरा 'वैचलर' था, जानता न था कि बीवी किस चिड़िया का शुभ-नाम है। पर, दो-दो चोचे करने मे वह नर चिड़िया से तगड़ी पड़ती है—इसका कुछ-कुछ अनुमान मुझे अवश्य हो चला था, सो भी पण्डित बालमुकुन्द की कृपा से, जिसके लिए मै आज उन बेचारे का कृतज्ञ हूँ। जहाँ भी हो—पता नही, इन दिनो वे कहाँ है—वहाँ ईश्वर उनकी रक्षा करे। आप भी, मेरा विश्वास है, उनकी कथा पढ़ कर ईश्वर को ही इस कार्य के लिए कष्ट देंगे, क्योकि उसके अतिरिक्त और किसी के मुँह मे

षड्यन्त्र से पण्डिताइन के कान तक यह बात पहुँचने पर कि महरिन, जो होस्टल में धन्धा करती है, बड़ी सुन्दर है—पण्डिताइन से भी अधिक, पण्डित बालमुकुन्द को यह नौकरी भी छोड़ देनी पड़ी। ऐसा करने में उन्हें आपत्ति भी न हुई; क्योंकि उनका 'ऐम्बिशन' कुछ और ऊँचा था, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ। तब भी मैं उनके घर कभी-कभी आता-जाता था; मगर तभी, जब मन शैतानी करने के लिए खुजलाने लगता और कोई दूसरा चण्डूल न फँसता।

एक दिन बालमुकुन्द द्वार पर बैठे सिल-लोढ़ा धो रहे थे। मैं भी पहुँच गया।

"आज, पण्डितजी, हम लोगों का विचार सिनेमा देखने जाने का है; तुम भी साढ़े छः बजे आ जाना।"

"मुझे क्या कीजिएगा ले जाकर? मेरा सिनेमा यही सब है," लोढ़े पर निगाह जमाये हुए बालमुकुन्द ने कहा, जैसे वह कोई प्रसिद्ध 'स्टार' था!

"नहीं, बहानेबाज़ी नहीं चलने की। पैसों की चिन्ता न करो, टिकट हम लोगों ने ले लिया है। आज तुम्हें आना ही होगा।"

बालमुकुन्द अब करते ही क्या? मैंने एक भी ना-नू नहीं सुनी। वे मजबूरन ठीक समय पर आ गये। सिनेमा देखा गया। उसके बाद गप-शप में हम लोगों ने उन्हें क़रीब डेढ़ घण्टे तक रोक रक्खा।

कोई पूछता—"क्यों महाराज, ये बीवियाँ मर्दों के कान भी पकड़ती हैं कि नाक ही गरम करके छोड़ देती हैं ?"

दूसरा कहता—"मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते है, बाबा! मैं तो विवाह न करूँगा, चाहे लड़ाई पर ही भेज दिया जाऊँ !"

फिर कोई बोल उठता—"बालमुकुन्दजी, तुम तो लड़कियो के होस्टल भी कई बार हो आये हो, सुना है, वे नित्य सवेरे एक घण्टा इस बात पर विचार करती है कि भावी पतियो को कैसे हाँका जायगा। क्या इस विषय मे उन्हे कोई ट्रेनिङ्ग भी मिलती है ?"

"न जाने कौन कहता था, पण्डितजी, कि जब पण्डिताइन इसी जन्म मे चण्डी का अवतार धारण कर बैठती हैं तो तब तक यह रूप नहीं तजतीं, जब तक आप म्याँऊँ-म्याऊँ नहीं करने लगते !"

बालमुकुन्द रुष्ट हो कर उठ खडे हुए।

"अजी, हमारे बालम-कुन्द ही क्या, सभी मर्द बीवियो के आगे, भीगी बिल्ली की तरह, म्यॉऊँ-म्याऊँ करते है।"

इसी मे बज गये ग्यारह, तब जाकर बालमुकुन्द का पिण्ड छूटा। म्यॉऊँ-म्यॉऊँ के तुमुल घोष के बीच वे विदा हुए।

दूसरे दिन मैं उनके यहाँ प्रातःकाल ही जा धमका।

इस प्रकार बातचीत करने लगा कि भीतर भी सुनाई पड़े।

"धन्य है पण्डितजी, कल तो तुमने हमे खूब छकाया!

राह देखते-देखते सात बज गये और आप दिखलाई ही न पड़े ।"

"यह क्या कहते हैं राजा ?"

"आखिर आये क्यों नहीं ? नहीं जाना था तो पहले ही कह दिया होता ।"

"गया तो था बाबू !"

"गये होगे कहीं । हम तो सिनेमा ले जाना चाहते थे और आप इधर-उधर चल दिये ।"

"इतनी जल्दी भूल जाते हैं आप ? आप सब के साथ ही तो मैं सिनेमा गया था ।"

"वाह महाराज ! अच्छा ! हमारे साथ गये थे तो बतलाओ किस डाइरेक्टर की फिल्म देखी थी ?"

सीधे-साधे जीव, डाइरेक्टर-साइरेक्टर का नाम क्या जानते ?

"हीरो कौन था ?"

चुप्पी ।

"ट्रेजेडी थी कि कॉमेडी ?"

आश्चर्य और चुप्पी ।

"तब कैसे कहते हो कि हमारे साथ गये थे ?"

"भैया की बातें ! क्यों हँसी करते हो ?"

"हँसी ? यह भी ख़ूब रही ! पर, अच्छा, लौटे कब थे ?"

"कोई ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे रहे होंगे ।"

"आधी रात ? मगर सिनेमा तो सवा नौ पर ही ख़त्म हो जाता है।"

और बालमुकुन्द मेरे पागलपन पर मुँह बाँये ही रह गये। मैं अपना काम करके वापस आ गया।

इसका रहस्य बाद को उनकी समझ मे आया, जब इसकी प्रतिक्रिया हुई, जब परिडताइन ने आड़े हाथो लिया और जब उस दिन चूल्हे मे आग नहीं पड़ी।

इसके कारण कुछ दिन तक तो वे मुझसे बोले नहीं ; पर शीघ्र हम लोगो ने उन्हे मना कर सब ठीक-ठाक कर लिया।

इसी तरह एक दिन फिर—

बालमुकुन्द को मैं नुमाइश दिखलाने के लिये पकड़ ले गया। तस्वीरो की एक दूकान पर सुन्दरियो के कुछ चित्र मैंने छॉट कर अलग किये, और बालमुकुन्द को उनमे से एक पसन्द करने के लिये कहा। उनके चुनाव के अनुसार एक चित्र ख़रीद भी लिया, और टहलते ही टहलते उसके नख-शिख की आलोचना कर डाली, तब उन्हे लगभग एक बजे छोड़ा।

दूसरे दिन—

उनके यहॉ मै जा पहुँचा। मुझे देखते ही वे बोले— "भले आ गये बाबू, बड़ी जिन्दगी है, अभी हम लोग आपकी ही बात कर रहे थे। लो, परिडताइन से कह दो कि परिडत कहीं और नहीं गये थे।"

उन्होंने पहले ही मुझसे वादा करा लिया था; मैंने कहा—"हाँ-हाँ, कल मेरे साथ ये ज़रा एक जगह रामायण सुनने चले गये थे।"— मैंने सोचा, चोर चोरी से गया तो गया, हेरा-फेरी से तो न जाय !

भीतर से आवाज़ आई—" पर, ये तो कहते थे कि नुमाइश गये थे !"

"हॉ हॉ, नुमाइश ही सही !"— कहा मैंने।

फिर मैं बालमुकुन्द से बाते करने लगा।

" तुम्हारी पसन्द भी क्या होती है ! सौ मे से एक छॉट दिया। बडी सुन्दर थी।" मतलब चित्र से था।

बालमुकुन्द गद्‌गद्‌ हो गये।

" उसे जो देखे, लट्टू हो जाय !"—मैंने आगे कहा।

"हॉ-हॉ !"—यह उनकी सन्तोष की हँसी थी।

"चाय के प्यालो-जैसी बड़ी-बड़ी आंखें तो इतनी कटीली हैं कि चित्त से उतरती ही नहीं !"

"हॉ !"—वे बोले।

"और बीर-बहूटियो जैसे पान से रचे ओठ ? उनके अन्दर रङ्गून के चावलो-से दॉत चमकते हुए। वाह !"

"हॉ !" उन्होंने स्वीकार किया।

"ठुड्डी, बिजली के वल्ब-सी, देखी थी? उस पर बाईं ओर जो तिल है, वह गोरे रङ्ग पर कितना खिलता है, जैसे कमल की पँखुड़ी पर कोई भौंरा थका-माँदा सो रहा हो!"

"क्या कहना है बाबू!"—अब पण्डितजी पर कुछ-कुछ रङ्ग चढ़ा।

"और उसके सिर के घुँघराले बाल कितने लम्बे हैं, कम से कम घुटनों तक पहुँच ही जाते हैं;"

"वैसे बाल इधर की औरतों के नहीं होते!"—कहा बाल-मुकुन्द ने और अन्दर से पैर पटकने की आवाज़ मेरे सधे हुए कानों मे पड़ी।

तब तक मैंने पतली चोली की रङ्गत और बनावट की भी प्रशंसा कर डाली। सब का वर्णन तो हो गया, पर जो चित्र की जान थी, उसके विषय मे मैंने जानबूझ कर चुप्पी साध रक्खी—चित्रकार ने कमर बहुत ही पतली और लोच के साथ दिखलाई थी, ऐसी कि देखने वाले के ध्यान मे सब से पहले उसी का आना अनिवार्य था, और पिछली रात नुमाइश मे स्वयम् बाल-मुकुन्द ने उसकी उपमा मूसल और मदारी के डमरू की कमर से दी थी।

आखिर पण्डितजी खुल ही गये—"मुझे तो सब से अधिक पसन्द उसकी कमर आई।"

इतना कहना था कि अन्दर से न जानें क्योंकर हवा को चीरता हुआ, चक्र-सुदर्शन-सा, बेलन आया, और अपने निशाने पर बैठ गया। बालमुकुन्द को अपनी पीठ की देख-भाल करने

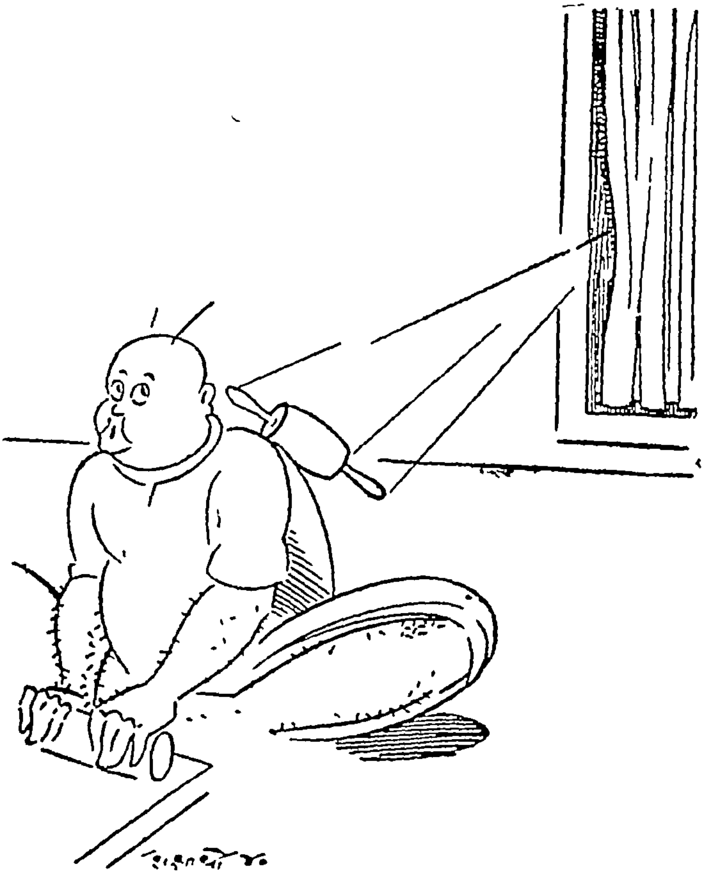

के लिए छोड़ कर अब मैंने वहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो जाने मे ही कुशल देखी। चित्र को ख़रीदने मे जो दुअन्नी लगी थी, वह अब वसूल ही हो चुकी थी।

इस प्रकार मैंने अपने क्वॉरेपन के नशे में एक ब्राह्मण से कई बार छेड़-छाड़ की, जिसके लिए मुझे बाद मे बहुत पछताना पड़ा।

इसके पश्चात् बालमुकुन्द के दर्शन नही हुए, सुना था कि वे मुझ पर इतने झुँझलाये हुये हैं कि कभी मौके से पा जायँगे तो देख लेंगे। फिर परीक्षा के चक्कर मे उनकी खोज-खबर लेने का अवकाश ही न मिला, छुट्टी मे चटपट बोरिया बिस्तर बाँध कर सीधे घर का टिकट लेना पड़ा। इधर पिताजी की कोशिशो से एक अच्छी-खासी नौकरी भी मिल गई, और सब से बड़ी बात यह हुई कि अन्त मे मुझे अपनी प्रिय-बैचलरशाही से विदा लेनी पड़ी और एक दिन यथा-विधि मेरे भी गले मे वर-पगहा आ पड़ा।

इसे पण्डित बालमुकुन्द के शाप का फल ही कहिए। अब मैंने समझा कि किसी की मुसीबत मे हँसी उड़ाने का परिणाम खट्टा होता है। इसके आगे पढ़ने के पूर्व पाठक भी इसे गाँठ मे बाँध लें।

मुझे जो श्रीमतीजी मिली, उनको जितनी ऊँची सुन्दरता मिली है, उतनी ही ऊँची शिक्षा मिली है, और जितनी ऊँची शिक्षा मिली है, उतना ही ऊँचा दिमाग भी मिला है, यह सब उनके जूतो की एड़ियो की ऊँचाई से स्वतः सिद्ध है।

जैसा कि यूनिवर्सिटी-जीवन में हम लोगो का अभ्यास था, मैं समझता हूँ, मेरी श्रीमती और उनकी सहेलियो के भी पीछे कालेज मे हम-जैसे छोकरे रूमालो के नीचे से म्यॉऊँ-म्यॉऊँ

की आवाज़ लगाते रहे होगे। उसी का बदला आज मुझे चुकाना पड़ा है। आरम्भ के दिन तो ज्यो-त्यो करके कट गये ; पर बाद को मुझे अकबर के शब्दो मे मानना पड़ा कि 'अहसान है यह, जो मुझको शौहर समझो।' वर्ना, क्या ठीक, केवल हेयर-क्लिप समझती !

अब मैंने यह मोटो बना लिया है कि स्त्रियो के सौन्दर्य को पसन्द करने से भला शतरञ्ज खेलना है, प्रेम करने से भला जूतो पर पालिश करना है और ब्याह करने से भला है 'सी' क्लास मे जेल जाना ! ताकि जो लोग पीछे-पीछे मेरे पद-चिन्हो पर आयें, वे जहाँ चार चिन्ह देखें वही से बगल हो जायँ।

धारा १२४-ए हो, या भारत-रक्षा कानून हो तो उतना भय नही, पर घरेलू सरकार के सामने सारी हक्की-बक्की भूल जाती है, कठिनाई तो यह है कि यहाँ अहिंसात्मक सत्याग्रह की भी दाल नही गलने पाती !

पुरानी चौकड़ी भूल गई। कोई हँसे नही, मै पहले ही चेतावनी दे चुका हूँ, अब मैं एक अत्यन्त आज्ञाकारी पति हूँ। गर्मी मे ७ और जाड़े मे ५॥ बजे शाम के बाद मैं चौखट के बाहर पैर नही रखता, दफ्तर को छोड़ कही जाने का नाम भी नही लेता हूँ, नाक छिनकनी हो तो भी नही, आर्य-समाज-मन्दिर मे कोई उपदेशक आये हो तो भी नही ! और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ता हूँ तो इस बात का पूरा ध्यान रखता हूँ कि जिस पृष्ठ पर किसी महिला का चित्र हो, उसे बिना पढ़े ही उलट देना एक विवाहित पुरुष का कर्त्तव्य है।

मेरी सुन्दर पत्नी को सब से अधिक चिढ़ सुन्दरी अभिनेत्रियों से है, और इसलिए मुझे सिनेमा देखना मना है। कहती है, सिनेमा देखने से लड़के बिगड़ जाते है। मै कैसे कहूँ कि मैं लड़का नहीं हूँ ? हाँ, यदि कभी उन्ही का जी कहे तो मेरे भाग्य जागे; वे मुझे साथ ले जा सकती है। बहुत-से दुर्लभ चित्रो का जो अलबम मैंने कई साल के परिश्रम से संग्रहीत किया था, उस पर पानी फेर दिया गया, अर्थात् वह आग मे झोंक दिया गया, केवल इसी अपराध पर कि उसमे एक चित्र श्रीमती लीला चिटनीस बी० ए० का निकल आया ! अलबम यह पहली चीज़ है, जिसे श्रीमतीजी ने चूल्हे मे लगाया है; क्योकि वे चूल्हा जलाना जानती ही नहीं, यद्यपि उन्हे पाक-कला का सर्टिफ़िकेट स्कूल से प्राप्त है। किन्तु, निस्सन्देह, वे रसोइये को विधियो के सम्बन्ध मे मौखिक आदेश दे सकती हैं, जिनको अमल मे लाना रसोइये के लिए टेढ़ी खीर है।

दूसरा काम, जो पति के तमाम त्यागो और सेवाओं के बदले मे करने की कृपा वे करती है, वह है हिसाब-किताब, रुपये-पैसे का रखना। यही क्या कम है कि इतनी सुकुमार होकर भी वे लोहे-पीतल की चाभियो का भार सँभाले रहती है ?

मेरे ऐसे आड़े दिनो मे एक प्रसिद्ध थिएट्रिकल कम्पनी भी नगर मे आ डटी। भला इसे अब आना था, जब मुझे विवाहित शासन मे दिन काटते लगभग डेढ़ साल होने को आये ? सिर मुँड़ जाने पर कहा ?

विज्ञापन वाले गाड़ियों पर चिपकाये हुए बड़े-बड़े पोस्टर निकालते है, जिनमे कोई डेढ़ दर्जन अभिनेत्रियो के 'मिस'-युक्त नामो का ढिंढोरा पीटा गया है। डेढ़ दर्जन, ओह !! बैण्ड वालो के भारी-भरकम ढोल पर एक-एक चोट जो मारी जाती है, वह सीधे मेरे हृदय के संयम पर आ पड़ती है। लेकिन मैं बेचारा दिल मसोस कर रह जाता हूँ। जानता हूँ कि मेरी सरकार का क़ानून ऐसा तमाशा देखने के लिए मेरा आवेदन-पत्र कदापि न स्वीकार करेगा, जिसमे १८ की तो बात दूर, एक भी औरत का पार्ट हो।

मै इन गर्दभ-सन्तानो को क्या कहूँ जो इन्होंने एक खेल 'बीवी के राज मे' दिखलाने की सूचना निकाली है। मेरे एक मित्र ने मेरे कान मे कहा कि बड़ा ही मज़ेदार कॉमिक है। यही बेचारे एक रह गये जो कभी-कभी लुके-छिपे देखने आ जाते हैं कि जीवित हूँ या नही, शेष यार लोगो का तो अब मेरे यहाँ पर मारने का साहस ही नहीं होता।

मित्र महाशय की राय है कि यह तमाशा किसी न किसी प्रकार अवश्य देखना चाहिए। ये मेरी परिस्थति से पूर्णतय परिचित हैं; जानते है कि जान पर खेल जाऊँ, तभी देखना हे सकता है, फिर भी ऐसी राय देते है, क्या बताऊँ!

उन्होने कहा—"एक काम करो। दवाखाने से गहरी नी लाने की कोई दवा लाओ। वही श्रीमती को किसी प्रकार दो, फिर चुपचाप खिसक चलो, खेल लगभग दस बजे के शु

होता है। नौकरानी को मिलाना होगा, डेढ़ बजे दरवाज़ा खोल दे।"

डूबते को तिनके का सहारा। मेरे सच्चे मित्र ने इतनी कृपा और की कि दवा भी ला दी। फिर क्या रहा? मैंने उसे श्रीमती जी के सिरहाने रक्खे हुए दूध के ग्लास मे मिला दिया। किसी को कानो-कान ख़बर न हुई। देवता अनुकूल है। साढ़े नौ बजे के पहले ही श्रीमती ने लम्बी तान ली, और तारीफ यह कि इसके लिए उन्हें सिरहाने रक्खा दूध भी न पीना पड़ा। फिर नौकरानी के हाथ मे मैंने चाँदी का एक अर्द्ध-सिक्का रक्खा, कहा—"जब मैं रात मे वापस आऊँ और 'म्यॉऊँ-म्यॉऊँ' कह कर बुलाऊँ तो समझ लेना कि मै हूॅ, और धीरे से दरवाज़ा-खोल देना। समझी?"

कहने की आवश्यकता नही; चमकदार अठन्नी ने उसे सब समझा दिया। और तब हमने थिएटर-हाल मे पहुॅच कर ही दम लिया, रस्सी तुड़ा कर।

तमाशा ऐसा है कि हँसते-हँसते लोगो के पेट फूल रहे है। एक मै ही हूॅ, जिसके ओठो पर विदूषक का 'एक दुःख पाया मैने बीवी के राज मे; हाथ भर घूँघट रे, मूॅछों से मेरा झॉकना' गाना भी मुस्कान की एक रेखा न खींच सका, ऐसी भी रेखा नही, ज्यॉमेट्री के हिसाब से जिसकी लम्बाई होती है, चौड़ाई नही। कारण यह है कि मै यहाॅ थिएटर-हाल मे हूॅ, दिल मेरा घर मे 'स्लीपिङ्ग ब्यूटी' की चारपाई के पैताने मँडरा रहा है, मैं बैठा हूँ, वह बैठा जा रहा है।

राम-राम करके तमाशा खत्म हुआ। मै घर की ओर सरपट भागा। पीछे-पीछे मेरे मित्र भी। दो बजते होगे।

दरवाजे पर पहुँचते ही मैने कोशिश करके हॉफने की कुछ रोक-थाम की और गले को सुरीला करके कहा—"म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

दम फूलने के कारण आवाज बढ़िया नही निकली। दोबारा कोशिश की।

"म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

फिर बोलना पड़ा—"म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

जरा जोर से—"म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

और फिर—"म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

कोई फल न निकला। तब मेरे प्यारे मित्र ने भी जोर लगाया, कहा—"म्यॉऊँ!"

पर, कौन सुनता है!

मैं—"म्यॉऊँ-म्यॉऊँ।"

मित्र—"म्यॉऊँ-ऊँ-ऊँ!"

"अरे म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

"हॉ, म्यॉऊँ-म्यॉऊँ!"

"तुमने सुलाने की दवा दी थी?"

"श्रीमती के सिरहाने रक्खे दूध मे मिला दी थी।"

"या तो वह दूध कोई बिल्ली पी गई, या कम्बख्त नौकरानी गटक गई!"

मैं—"म्यॉऊ-म्यॉऊँ-म्यॉऊँ !"

पुनः—"म्यॉऊँ-भाई-म्यॉऊँ !"

पर सब निरर्थक।

"मालूम तो होता है कि कम्बख्त नौकरानी ही दूध पी कर मर गई ! चोर कहीं की ! आज कलई खुली !"

अब क्या हो ?

मित्र ने बायें हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की कुहनी रक्खी और इस हाथ पर ठुड्डी। मैंने भी इसी सिलसिले से, क़दम-ब-कदम, उन्हीं का अनुसरण किया।

फिर दो सिगरेट सुलगाये गये।

अब मित्र की बुद्धि काम करने लगी, मेरी गुम

"पिछवाड़े कोई मार्ग है ?"—उन्होंने पूछा।

मुझे ऐसा लगा कि कुएँ में गिरा पड़ा हूँ, ऊपर से कोई कुछ पूछ रहा है।

अब ख़्याल आया कि है।

'मेहतर के अन्दर जाने का है, मगर उसमें ताला बन्द रहता है ; कुञ्जी उसी के पास रहती है।'

"तो उस ताले को तोड़ने के सिवा अब कोई चारा नहीं !"

एक बार मैंने फिर म्यॉऊँ-म्यॉऊँ किया, जब तक साँस, तब तक आश !

"पर, मित्र, उस रास्ते में एक और मोर्चा पड़ेगा—दूसरा द्वार, वह अन्दर से बन्द होगा।"

"तब ?"

"हॉ तब ?' 'म्यॉऊँ-म्यॉऊँ !"

"किसी तरफ़ कोई खिड़की-सिड़की है ?"

अब मेरी जान मे कुछ जान आई। हड़बड़ी मे बारजे की याद ही न रह गई थी।

और आखिरी बार म्यॉऊँ-म्यॉऊँ करके कि शायद अब भी सस्ते निबट जायँ, हम लोग दाहिनी ओर की गली मे बारजे के नीचे पहुँचे।

गली गन्दी थी। हम लोगो ने अपनी-अपनी नाक पर रूमाल बॉध लिया। अब तो पूरे चोर लगने लगे, जैसे फिल्मो मे दिखाये जाते है।

मित्र पाजामे मे थे, बोले—"नीचे लँगोट पहन रक्खा है तुमने ?"

"हॉ।"

"तो धोती खोल डालो।"

मैं, चकित, आदेश का पालन करने लगा। कुर्ते के नी अण्डर-वियर मात्र और लम्बी-लम्बी टॉगें नग्न—कैसी भद्द स्थिति ! पति होने का पुरस्कार !

मित्र ने धोती का एक छोर बारजे पर फेंका, कई बार फेकने पर वह जा कर इस तरह पड़ सका कि एक खम्भे के पीछे से होता हुआ थोड़ा नीचे लटक आया। आज मै समझा कि हमारे पूर्वजो ने धोती को अपना कर कितनी बुद्धिमत्ता का कार्य किया था। उनके वंशज धोती के उपयोग को भूल गये हैं। इस समय

खेद करने का अधिक अवसर नहीं, पर मैंने मन ही मन यह मनौती मान ली कि इससे छुटकारा पा कर कल ही एक तगड़ा

लेख 'धोती' पर लिखूंगा और उसमें पतलून की असुविधाएँ गिना-गिना कर दिखलाऊँगा।

और मित्र, सक्रिय रूप से, दीवाल पर दोनों हाथ जमा कर बोले—"चढ़ तो जाओ मेरे कन्धों पर।"

मैंने अब धोती का वह छोर खींच कर पहले वाले से बाँध दिया। प्रथम अवसर था, डरते-डरते पैर रखे। फिर मैं यह कमन्द पकड़ कर त्रिशङ्कु की भाँति लटक गया और, मित्र महोदय हाथ साफ करके अलग हो गये।

काम कठिन था, मैं बोला—"यार पैर, काँपते हैं!"

"तो अब नीचे उतर आइए महाशय।"—नीचे से आवाज़ आई, पर यह निश्चय ही मेरे मित्र की न थी।

"दो-चार हाथ जब कि लवे बाम रह गया

मुड़ कर देखा तो अन्धकार में एक भारी-भरकम छाया-मूर्ति है, पहनावे से एक पहरेदार के आसार दीख पड़े।

अब काटो तो खून नहीं।

करता क्या, मैं चुपचाप नीचे उतर पड़ा, उतर क्या पड़ा, मित्र की मदद से गिर-सा पड़ा।

"हाँ-हमारा मतलब य-यह न था।"

"हरगिज़ नहीं। आप लोग तो शायद सरकस दिखलाने के लिए यहाँ एकान्त पाकर जरा अभ्यास कर रहे थे।"

"जी नहीं, हम लोग इस मामले में ..।"

"एकदम नये खिलाड़ी हैं,"—उसने बात काट कर कहा—'यह तो आप के ढङ्ग की विचित्रता से ही प्रकट है!"

"ज जि जी हाँ, हम शरीफ आदमी हैं"—मेरे मित्र ने दलील दी।

"तो अच्छी बात है, शराफत से मेरे साथ कोतवाली तक चले चलिए।"

'देखिए, हम लोग ऐसे आदमी नहीं हैं!"—यह मित्र की दूसरी दलील रही।

"हाँ-हाँ, और अब जरूरत न हो तो मुँह पर से रूमाल खोल डालिए, जिससे मैं अपने नये दोस्तों को पहचान सकूँ!"

"रूमाल हमने किसी और मतलब से नहीं बाँधा था।"

"ठीक है, कोई बात नहीं। मैं समझता हूँ, मुझे दूसरे तरीक़े से पेश आना पड़ेगा।"

गिड़गिड़ाना काम न आया। उसके साथ चलना ही पड़ा। मजबूरी थी। दुष्ट ने धोती भी न पहनने दी। मुझे इस हालत में लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे? और पुलीस-लॉक-अप के छड़ों के पीछे से मैं मुँह दिखलाने के काबिल कैसे रह जाऊँगा? हे भगवान्!

गली से निकल कर हम बिजली के खम्भे के पास आ गये। मेरी गरदन अपने आप झुक गई थी। मित्र की भी। पर, मैंने साहस करके एक बार नजर ऊपर की।

उस पर दृष्टि पड़ते ही मेरे मुँह से आश्चर्य की एक चीख हठात् निकल पड़ी।

"अरे तुम हो?"—मैंने कहा—"पण्डित बालमुकुन्द!"

हाँ, बालम-कुन्द ही सिविक गार्ड के रूप में!

जेब-ख़र्च

लड़कपन में पिताजी स्कूल की फीस देते समय यह गुंजाइश कभी न रहने देते थे कि मैं उसमें से कचालू के लिए पैसे बचा सकता। सुबह किसी कापी या पुस्तक के दाम देते तो शाम को दूकानदार का कैश-मेमो अवश्य देख लेते थे। यहाँ तक कि कालेज-जीवन में भी मुझे बाकायदा फीस की असली रसीदें दिखलानी पड़ती थीं। बिला दिखलाये अगले मास की फीस, नहीं मिल सकती थी।

मेरे लिए बहू का चुनाव करते समय भी शायद पिताजी को इस बात का पूरा ध्यान था। उनकी कृपा से—ईश्वर पिताजी की आत्मा को शांति दे!—उनके पुत्र को जीवन-संगिनी ऐसी मिली है, जो स्वयं भी कौड़ी-कौड़ी का हिसाब लेने में उतनी ही पक्की है।

वेतन-दिवस का आकर्षण मेरे मन मे अब गुदगुदी नही उपजाया करता; क्योकि मेरी श्रीमतीजी पहले से ही उस दिन की प्रतीक्षा मे उगलियो के मोड़ की रेखाएँ गिनती रहती है। और उनको मेरे वेतन के आने-पाई का पूरा विवरण कंठस्थ है। लगता है कि जैसे श्रीमती ने दफ्तर के कैशियर की पत्नी से दोस्ती कर ली है। युद्ध की मॅहगी का जो भत्ता मिलता है, उसके भी हिसाब का ज्ञान उन्हे है। मेरी क्या मजाल कि कुछ काट-कपट कर सकूँ!

जो वस्तु अन्ततः अपनी मुट्ठी मे नही रहनी है, जिसे ले जाकर, चुपचाप दूसरे के हाथ मे रखकर अलग हो जाना है, उसके प्रति निस्पृह भाव से उदासीन न रहूँ, उसका मोह मैं करूँ तो मेरे नियमित गीता-पाठ का क्या फल, क्या लाभ ?

इस समर्पण के फल-स्वरूप मुझे श्रीमती से जेब-खर्च मिलता है, किन्तु वह कठिन औचित्य की कसौटी पर कसा हुआ होता है। मै किसी दिन, किसी भी दशा मे, तीन सिगरेट से अधिक नही पी सकता। इससे कलेजे को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है! इसी प्रकार, चार-छः सप्ताह मे एक बार से अधिक सिनेमा देखना आँखो के हक़ मे बुरा होता है!

श्रीमती के करकमलो मे पैसा भ्रमर-सा वन्द हो जाता है। एक बार रख-भर दीजिए, वस फिर उनके हाथ से एक पाई भी पा सकना वालू से तेल निकालना हो जायगा।

स्त्री-स्वीकृत 'जेब-खर्च' और पुरुष के 'ऊपरी खर्च' के अर्थो मे वडा भेद होता है। और, मै अपने दफ्तर मे ऐसे शुष्क-पद पर

नियुक्त हूँ कि यहाँ 'ऊपरी आमदनी' का नाम नहीं। कोई साधन ही नहीं। क्या आशा की जा सकती है ? बड़े भाग्य से इस युग में घूस-दाता किसी के पास फटकते हैं। अपने वैसे भाग्य कहाँ !

परंतु, कभी-कभी अंधे के हाथ भी बटेर लग जाते हैं। एक दिन मेरा भी सितारा चमका, और, न जाने कहाँ का भूला-भटका, एक असामी आ फँसा। गाँठ का पूरा था। उसने दस रुपये का एक नोट चुपके से मेरे हाथ पर रक्खा और मैंने कसकर मुट्ठी बाँध ली। मेरी नसों में रक्त का संचार अत्यन्त तीव्र हो गया।

इस अप्रत्याशित धन को पाकर मैं फूला न समाया। प्रसन्नता इस बात की थी कि इस प्राप्ति का पता न तो हमारे कैशियर को था, न उसकी पत्नी को। मैं निश्चित था कि घर में मेरी श्रीमती इसका हिसाब न ले सकेंगी। जो हर्ष कारागार में देवकी को यह जानकर हो सकता था कि अमुक सन्तान को क्रूर कंस के हवाले न करना पड़ेगा, वही हर्ष आज मुझे हुआ।

मैं दस रुपये का एकमात्र अधिकारी था। कोई हिस्सा बटाने वाला न था, कोई नहीं। बस, मैं ही मैं था। जिस प्रकार चाहता, ख़र्च करता। किसी की रोक-टोक का डर-दबाव नहीं था। मैंने नोट को बार-बार-देखा। देखने से जी न भरता था। फिर मैंने तह किया और उसे बहुत सँभाल कर जेब में रख लिया।

आख़िर शाम हुई और मैंने घर की राह पकड़ी। मेरे पैर धरती पर न पड़ते थे ! और मेरा हाथ बराबर जेब के मुँह पर दबाव डाले रहा कि कहीं नोट हवा से उड़कर निकल न

मैं किसी भी तरह उसे खोने के लिए तैयार न था। जिस प्रकार बुढ़ापे मे आदमी को पत्नी की रक्षा का अतिशय ध्यान रहता है, उसी प्रकार आर्थिक सकट मे रुपये की रक्षा का भी ध्यान रहता है, क्योकि दोनो का पाना फिर कठिन हो जाता है।

मैं सोचता जाता था कि यह करूँगा वह करूँगा, ऐसे खर्च करूँगा, वैसे खर्च करूँगा। नये-नये प्रोग्राम बनने लगे। योजनाओ पर योजनाएँ खड़ी होने लगी। बहुत दिनो के सोये हुए अरमान जाग पड़े।

इसी उधेड़-बुन मे सारी राह कट गई और मुझे कुछ जान न पड़ा। आज यह पहला दिन था, जब दफ्तर से घर की दूरी की शिकायत मन मे नही उठी।

द्वार पर पहुँचते-पहुँचते मैंने जेब टटोल कर एक बार फिर अपने हृदय को सन्तुष्ट किया, तब भीतर पैर रक्खा।

इतने मे पीछे से आवाज आई, "बाबू साहब!"

मैंने मुड़कर देखा। वह डाकिया था। "चिट्ठी है," उसने कहा।

उसके हाथ से मैंने लिफाफा ले लिया। देखा, श्रीमती के नाम से आया था। उस पर एक ओर लिखा था कि 'और कोई पढ़े तो पाप का भागी हो।' इससे मेरी उत्सुकता भड़क उठी—यह कौन है, जो मुझे स्वयं अपनी पत्नी का पत्र पढ़ने के सम्बन्ध मे निषेधात्मक उपदेश देता है?

मेरे हृदय मे सहसा एक विचित्र सन्देह उठ खड़ा हुआ। जी मे आया कि कहीं यह कोई गुप्त प्रेम-पत्र तो नहीं है, जिसे

पति की दृष्टि से बचाने के लिए लेखक ने यह चाल चली हो। मैं सोच में पड़ गया।

ज्यों-ज्यों मैं अधिक सोचता, त्यों-त्यों यह मामला और भी गम्भीर जान पड़ता। सन्देह की बू बढ़ती गई। जब मेरे मन ने न माना तो मैं बैठक में गया। कुर्सी पर बैठकर मैंने एक बार मस्तक पर हाथ फेरा, फिर लिफाफे को पलटकर ध्यान से देखा बीच में एक जगह "७४॥" लिखा हुआ था और लिफाफे का मुँह साधारण रूप से चिपकाया हुआ था; ऐसा न था कि खोला न जा सकता! अलग से गोंद या लेई का प्रयोग नहीं किया गया था, पहले से ही लगे हुए मामूली गोंद पर पानी लगाकर काम चला लिया गया था। शायद प्रेषक महाशय 'साढ़े चौहत्तर' की गिनती को ही संसार का बहुत पुष्ट गोंद समझ बैठे थे!

"७४॥" की व्याख्या से मैं पूर्णतया अनभिज्ञ न था। इसके पीछे कोई कथा है, यह जानता था। पर, ठीक से कुछ न मालूम था। केवल इतना पता था कि इसे लिखने का आशय कुछ ऐसा होता है कि पत्र को खोलना-पढ़ना उतना ही बड़ा अपराध होगा, जितना साढ़े चौहत्तर की संख्या से सम्बन्धित न जाने किस कथा-प्रसिद्ध कार्य से हुआ था।

कुछ भी हो! इन ढकोसलों में मेरा किञ्चितमात्र विश्वास न था, न कोई श्रद्धा थी। मैं इस सन्दिग्ध पत्र को देखे बिना नहीं रह सकता था।

मेरे मन में कोई यह मना रहा था कि ईश्वर करे, इस लिफाफे में सचमुच प्रेम-पत्र ही निकले। काश ऐसा ही होता! यों पति की ओर से अपनी पत्नी के लिए ऐसी आवाज़ न उठनी चाहिए। उसके मन में ऐसी बात, ऐसी इच्छा, न उत्पन्न होनी चाहिए। किन्तु मेरी बात ही और थी। मैं चाहता था कि नाम-मात्र को भी मेरे हाथ वैसा कोई पत्र लग जाय तो मुझे अनायास एक अच्छा-खासा बहाना मिल जाये, जिससे मैं श्रीमतीजी को प्रति मास अपना वेतन देने के कष्टप्रद व्यापार से छुट्टी पा लूँ। काश, ऐसा हो सकता!

अन्त में प्रलोभन और सन्देह ने मिल कर भलमनसाहत पर विजय पाई। मैंने अपने को समझाया कि इसमें हर्ज ही क्या है। यदि अनुमान के अनुसार वैसी कोई बात न होगी तो लिफाफे को फिर ज्यों का त्यों चिपका दिया जायगा।

और मैंने बड़ी सावधानी से होल्डर के पिछले सिरे के सहारे लिफाफा खोल डाला। यह कार्य बड़ी सरलता से हो गया। किन्तु, अफसोस! उसमें कोई सन्देहजनक वस्तु न मिली। यह केवल एक छोटा-सा मामूली पत्र था, जिसे श्रीमती की किसी सहेली ने भेजा था। सरसरी तौर से देखने पर क्षण भर में ही मालूम हो गया कि उसमें स्त्रियों की अपनी बातें लिखी हैं, घरेलू मामले हैं। बस।

मैं उसे पढ़कर क्या करता? सोचा, यह गुनाह बेलज्जत हुआ। न खोला होता, तभी ठीक था।

अभी मैंने पत्र को लिफाफे मे रखने के लिए केवल मोड़ा भर था, कि श्रीमती को बोली सुन पड़ी, "क्या आज जल-पान करने की भी याद नहीं रही ?"

यह सुनते ही मैंने झट से लिफाफे और पत्र को जेब मे छिपा लिया। डर था कि मेरी चोरी खुल न जाय और फिर श्रीमती की आँखो मे नीच बनना पड़े। वस्तुतः किसी के व्यक्तिगत पत्र को खोलना घोर नीचता थी, मैंने अनुभव किया।

दूसरे ही क्षण श्रीमतीजी जल-पान की सामग्री लेकर बैठक मे आ गईं। मैंने रत्ती भर देरी कर दी होती तो भण्डा फूट जाता और मै लाल हाथो पकड़ लिया जाता।

"अभी तक कोट भी नहीं उतारा ?"--वे बोलीं।

"उतारता हूँ"--मैंने कहा।

तश्तरी और गिलास रखकर उधर वे पान लाने अंदर गईं, इधर मैंने जल्दी से जेब मे हाथ डालकर लिफाफा और पत्र निकाला, कंधे के पीछे देख कर चटपट पत्र को लिफाफे मे रक्खा, और गोंददानी मे से गोंद लेकर चिपका दिया। तब चैन की साँस ली।

यह सारा काम कुछ क्षणो मे ही हो गया। फिर भी लिफाफा सफाई से चिपक गया था और यों देखने मे एकदम पहले जैसा लगता था।

उसे ठीक से देख-भालकर मैंने मेज पर एक पुस्तक के नीचे दबा दिया। फिर टोपी उतार कर रख दी और पतलून के बदले धोती पहन ली। कोट-कमीज मै वही पहने रहा।

फिर डटकर जल-पान हुआ। उसके पश्चात् कुछ देर तक इधर-उधर करके मैंने छड़ी उठाई, पुस्तक के नीचे से श्रीमती का पत्र निकाला और उसे उन्हें देते हुए कहा, "लो, तुम्हारे नाम एक चिट्ठी आई है। मै जरा शर्माजी के यहाँ जा रहा हूँ। चाय की दावत है। हो सकता है, देर लग जाय और मै कुछ रात हो जाने पर लौट सकूँ।"

और बन्दा बाहर हो रहा।

किसी शर्माजी, वर्माजी के यहाँ कोई दावत आदि न थी। यह एक अच्छा बहाना था। वास्तव मे मुझे आज की शाम होटल मे काटनी थी। यह होटल खर्चीला अवश्य था, पर था बड़ा प्रसिद्ध। मैंने मन-ही-मन पीने की स्कीम बना ली थी। पानी, दूध और शरबत पीते-पीते जी ऊब चला था। आज कुछ और पीने का विचार था। उस होटल मे इसकी बड़ी सुविधा थी। कहने पर वहाँ किताबी नहीं, वरन् सचमुच की मधु-बाला का भी प्रबंध हो सकता था। मैंने हिसाब लगाकर देख लिया कि यह सब दस रुपये मे मजे से हो जायगा।

एक युग के बाद आज मुझे ऐसा स्वर्णिम अवसर मिला और दस का नोट भगवान् ने छप्पर फाड़कर दिया। मै आज भला कैसे चूक सकता था? मैंने सोचा—आज मेरे दिल के हौसले न पूरे होंगे तो फिर कब होंगे?

श्रीमतीजी का पत्र खोलने से जो पश्चात्ताप हुआ था, वह सब अब हवा हो गया था। ज्यों-ज्यों मै होटल के निकट पहुँचता

जाता था, त्यों-त्यों मेरा मस्तिष्क एक सुगन्धित माधुर्य से भरता जाता था।

मुझे दस रुपये क्या मिल गये, मानो दो घड़ी के लिये कहीं का राज्य मिल गया था !

मेरी उँगलियाँ जेब मे नोट से खेल रही थीं और मेरे मुँह से सिनेमा-गीतों की तानें बरबस फूटकर निकल रही थीं।

होटल मे पहुँचकर मै रोब से 'प्राइवेट कमरे' मे जा विराजा। किन्तु, जब आँखें शीतल करने के लिए मैंने जेब मे से नोट निकाला, तब सहसा मेरा कलेजा बर्फ की तरह जमकर सर्द हो गया, आँखों के आगे दुनिया नाच गई और पैर के नीचे धरती डगमगा उठी। मै सन्न रह गया।

मेरे हाथ मे कागज का वह टुकड़ा था, जिसे श्रीमती की सहेली ने उन्हें लिख भेजा था।

जेब मे हाथ डालकर मैंने बारम्बार देखा। पास मे एक दुअन्नी से अधिक कुछ न था।

ब्वाय आया, सलाम करके खड़ा हो गया।

मैंने दबे हुए स्वर से कहा, "एक प्याला चाय लाओ!" मेरा गला भर्राया हुआ था।

ब्वाय किञ्चित् नाक सिकोड़ कर आज्ञा-पालन करने चला गया।

घर लौटने पर श्रीमती बोलीं, "शर्माजी के यहाँ से बड़ी जल्दी लौट आये ? दावत बहुत कम समय मे खतम हो गई ?"

"हाँ," मैंने धीरे से कहा।

"एक बात बड़ी विचित्र है", उन्होंने आगे कहा. "जो पत्र आज आया है. उसमें रखकर न जाने किसने मुझे दस रुपये का नोट भेजा है। बड़ी विचित्र...।"

"अच्छा!" मैंने कहा और सोचा—७४॥ का दोष और उसका फल चाहे और कुछ न होता। हां, पर इतना अवश्य है कि आदमी को साढ़े चौहत्तर दुअन्नियों और लगभग उतनी ही दुगुनी पाइयों से हाथ धोना पड़ता है! कान पकड़कर ऐंठ लिया कि अब किसी के पत्र को हाथ न लगाऊँगा!

सिर्फ़ एक छोटी-सी शरारत

मैंने नतीजा निकाला कि आदमी को नौकरी और ब्याह मे से केवल एक को अपने जीवन के लिए चुनना चाहिये। जिसने नौकरी की है, उससे ब्याह की जिम्मेदारी का निभना कठिन है, और जिसने ब्याह किया है, उससे नौकरी की जिम्मेदारी का निभना कठिन है।

मेरी ही बात लीजिये। इधर मेरी नौकरी लगी, उधर ब्याह हुआ। ब्याह हुआ, और बदली हो गई। नौकरी का मामला ठहरा, नई-नवेली दुलहिन को घर पर छोड़ कर इतनी दूर, परदेश मे आ बसना पड़ा। न खाने का ठीक, न रहने का ठिकाना। सब कुछ किराये का, अपनापन कही नही।

उधर एक सुकुमार फूल-सी बहू घूँघट ही घूँघट मे आहें भरे, और, इधर मैं दफ्तर की पुरानी कुर्सी के खटमलो के खाद्य-संकट को दूर करूँ, यह कब तक सहा जाता ?

और, दफ्तर के बड़े बाबू ऐसे मिले कि उनसे छुट्टी के लिये कहना युद्ध-काल मे पूर्ण स्वाधीनता की बात करना था।

इन मामलो मे बड़े बाबू बडे कट्टर थे। स्वयं छः बजे शाम तक दफ्तर नही छोड़ते थे। ऐसी दशा मे हम बाबू लोग साढ़े छः के पहले कैसे टस से मस हो सकते थे! करारी पिसाई करनी पड़ती थी।

कुछ बाबुओ का कहना था कि बड़े बाबू की 'वे' बड़े कठोर स्वभाव की थी, बडे बाबू सोचते थे, अधिक से अधिक जितना समय दफ्तर मे कट जाय उतना ही अच्छा!

उस दिन अँधेरा हो जाने पर मैं दफ्तर से लौट रहा था। मुहल्ले वालो ने आज एक छोटा-सा साँप मारा था। वह राह मे पड़ा था। मैने देखा, और मुर्दा साँप को उठा लिया। कुछ सोच कर उसे मैं घर लाया। मेरे मन मे डर नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी। भक्त लोग जीवित साँप को पकड़ कर प्रेयसी तक पहुँचे थे, यहाँ तो यह मुर्दा साँप था।

मैं अभी कुछ ही दिन पूर्व बायोलॉजी का होनहार विद्यार्थी था। न जाने कितने जीवो के शरीर की चीर-फाड़ कर चुका था। मृत-शरीर से घृणा करना मैने सीखा ही न था।

अगले दिन जब मै बडे बाबू से दफ्तर का कोई काम समझ रहा था, मेरे हाथ से कुछ कागज़-पत्र नीचे गिर गये। हाथ मे सतर खींचने का रूल भी था। मैं बैठ कर मेज़ के नीचे गिरे हुए कागज़ो को समेटने लगा। फिर मैंने हाथ के रूल को फर्श पर तीन-चार बार जोर-ज़ोर मारा-पटका। मोटे थे, फिर भी

बड़े बाबू कुर्सी पर से उछल कर अलग जा खड़े हुए. और नीचे एक छोटा-सा साँप मरा हुआ पाया गया। मेरी वीरता का शोर सारे दफ्तर मे हो गया। बड़े बाबू मुझ पर बड़े प्रसन्न हुए। मैंने उनकी जान बचाई, नही तो आज न जाने क्या हो जाता !

स्कूल मे सीखी हुई शरारते करने की कला आज काम मे आई। छुट्टी मिलने का डौल लग गया।

अपनी नयी श्रीमती को मैने सारी कहानी एक पत्र मे लिख दी पढ़ कर वह भी क्या समझी होगी कि कैसा काइयाँ पति मिला है। लोहा मान गई होगी, और हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई होगी। और चाहे जो भी हुआ हो, इसमे सन्देह नही कि मुझे छुट्टी मिलने के समाचार ने सूर्यकिरण बनकर उनके हृदय-कमल को खिला दिया होगा। मिलन की आशा ने श्रीमती को बावली बना दिया होगा। मुझे विश्वास था कि इन कारणों से वे मेरी इस छोटी-सी शरारत पर मुग्ध हो गई होगी। वाह रे मै !

अन्त मे बड़े बाबू ने मेरी एक सप्ताह की छुट्टी के लिये साहब से सिफारिश कर दी फिर स्वीकृति मिलने मे क्या देर थी ?

साथ के एक क्लर्क ने कहा—"यार, तुमने बेकार ही उस दिन साँप को मारा था। इससे तुम्ही अकेले को छुट्टी मिली। न मारते तो सब को छुट्टी मिलने की राह खुल जाती। यह सारी बाधा उस दिन कुछ क्षणो मे मिट गई होती !"

मैंने जीभ से 'च्च-च्च' करके एक सीधे-सादे सज्जन की भाँति कहा— "ऐसा न सोचो भाई!' जैसे मैं साहस से काम न लेता तो सचमुच उस दिन बड़े बाबू न बच सकते!

छुट्टी मंजूर होते ही मैं बाजार से स्त्रियोपयोगी भेंट के सामान लेकर और हृदय में मिलन के बड़े-बड़े अरमान लेकर, पहली गाड़ी से घर के लिए रवाना हो गया।

डिब्बे में बैठे हुए एक क्रिश्चियन साहब से मैंने पूछा— "आज गाड़ी लेट पहुँचेगी क्या?"

"ऐसी आशा तो नहीं है," उन्होंने अपनी जेब-घड़ी देख कर कहा, "अभी तक तो यह हर स्टेशन पर ठीक समय से पहुँची है।"

टी० टी० आई० आया तो उससे भी मैंने वही प्रश्न किया। उसने भी उत्तर दिया—"जी नहीं। लेट तो नहीं है।"

किन्तु, मेरे मुख पर से अविश्वास-भाव के चिह्न नहीं मिटे।

जिन साहब से मैंने पहले सवाल किया था, उनकी दृष्टि मुझ पर थी। सहज गाम्भीर्य और ज्ञान का तेज उनकी आकृति में पिरोये हुए थे। उन्होंने कहा—"ज़रा आप मुझे अपना हाथ, यदि कोई आपत्ति न हो, तो दिखलाइए।"

मैंने चुपचाप अपना एक हाथ आगे बढ़ा दिया। शायद वह बायाँ था; क्योंकि दाहिना उस जेब पर था, जिसमें आलता, नेल-पॉलिश और क्रीम-स्नो की शीशियाँ थीं। यों तो दूसरी

जेब भी भरी थी। उस मे चोटी, पाउडर और बिन्दी के सामान थे। किन्तु, दाहिनी जेब के सामान बाहर से दिखलाई पड़ते थे, इसलिए उसका विशेष ध्यान रखना आवश्यक था। दूसरे, इधर सीट पर चूड़ियाँ रक्खी हुई थीं। उन्हे भी टूटने से बचाने का ध्यान था।

पर, खैर, क्रिश्चियन महोदय ने बायाँ ही हाथ देखकर हाल जान लिया। साहब बहादुर बड़े रोब के आदमी जान पड़ते थे। हाथ छूटने पर मैंने पूछा—"आपने क्या देखा ?"

बड़ी गम्भीरता से वे बोले—"जो देखना था, देख लिया।"

"कुछ बतलाइए," मैंने अनुरोध किया।

कुछ देर तक इधर-उधर के नखरे करने के बाद वे बोले—"आपकी इस यात्रा का फल नहीं लिखा है।"

यह सुनकर मेरे देवता कूच कर गये।

"क्या यात्रा के फलाफल का भी विचार हाथ देखकर किया जा सकता है ?"—मैंने पूछा।

"हाथ मे क्या नहीं लिखा रहता ?"—उन्होंने जोरों से कहा—"सच्चा देखने वाला चाहिये।"

मैंने परीक्षा लेने के लिए कहा—'अच्छा तो यह बतलाइए कि मैं किस काम से यह यात्रा कर रहा हूँ जिसका फल, आप कहते हैं, न मिलेगा ?",

"वह काम आपके दिल से मतलब रखता है।"

मैंने मन-ही-मन सङ्केत को समझ लिया, फिर भी पूछा—"ज़रा खोलकर कहिए !"

साहब बोले—"आप इतने लोगों के सामने सुनना चाहते हैं ?"

"कह जाइए, कोई हर्ज नहीं ।"

तब उन्होंने कहा—"इस काम में एक स्त्री है ।"

यह सुनकर डिब्बे के कुछ लोग हँस पड़े ।

"कैसी स्त्री ?"—मैंने झट से पूछा ।

"उसे आप बहुत चाहते हैं," उत्तर मिला ।

लोग और भी मज़ा लेकर हँसने लगे ।

मेरी झुँझलाहट का आभास पाकर क्रिश्चियन ज्योतिषी ने कहा—"कोई वैसी बात नहीं है । वह आपकी विवाहिता स्त्री है । पर, अफसोस है पहुँचने पर आप उसे वहाँ न पायेंगे । आपको निराश होना पड़ेगा ।"

"ऐसा नहीं हो सकता !"—मैंने दावे के साथ कहा ।

"शास्त्र झूठ नहीं बोलता । आपको आपकी श्रीमतीजी घर पर नहीं मिलेंगी, नहीं मिलेंगी । मैं शर्त बद सकता हूँ ।"

मेरी आशा का दीपक एक विचित्र आँधी में पड़ गया । जी में आया—हो न हो श्रीमतीजी मायके भेज दी गई हों । क्रिश्चियन ज्योतिषी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि सहसा उसकी भविष्यवाणी पर अविश्वास न करते बनता था । फिर, बिना बतलाये हुए उसने जान लिया कि मैं पत्नी से मिलने जा रहा हूँ, यही प्रमाण क्या कम था ? तो भी खरे-खोटे की

जॉच करने के लिए कुछ और पूछ-तॉछ करना आवश्यक जान पड़ा।

"ईसाई-मतावलम्बी होते हुए भी आपने यह विद्या कैसे सीखी ?"—पूछा मैंने।

"क्यो ? क्या किसी दूसरे धर्म की अच्छी बात को ग्रहण करना पाप है ? और यदि मान ले कि यह पाप है, तो क्या अँग्रेजी मे यह विद्या नहीं है ?"

"यह मैं नही कहता। मेरा पूछने का मतलब यह है कि आपने यह सब किस तरह सीखा ?"

"किस तरह ? अरे जनाब, इस विषय की मैंने इतनी किताबें पढ़ डाली है कि कोई ऐसा-वैसा पण्डित क्या पढ़ेगा ?"

अब मैं लोहा मान गया। बोला—"ठीक है, किताबो से सब कुछ जाना जा सकता है। पर, कठिनाई यह है कि यहॉ असली किताबो के नाम ही लोगो को नहीं मालूम।"

"जी हाँ"—साहब खुश होकर बोले, "मगर मैंने ज्योतिष की बड़ी-बड़ी किताबे पढ़ी है, गिनाना कठिन है।"

"किसकी लिखी किताबे आपको सबसे ठीक जान पड़ी ?"

"जी ?"—कहकर कुछ देर तक वे सोचते रहे, फिर धीरे से बोले—"मुझे तो कालिदास की किताबे एकदम सच्ची जान पड़ीं।"

मैंने हँसी रोककर पूछा--"आपने कालिदास की ज्योतिष-शास्त्र की पुस्तकें पढ़ी हैं ?"

"क्यों नहीं ? क्या आपको विश्वास नहीं होता ?"

"अविश्वास का कोई कारण नहीं," मैंने कहा।

प्रसन्नता की बात थी कि मेरे निराशा के बादल फट गये।

मेरा स्टेशन आया। ज्योतिषी साहब से विदा लेकर मैं ख़ुशी-ख़ुशी घर पहुँचा। दिल बाँसों उछल रहा था। ओठों पर हँसी फूटी पड़ती थी। उमंगें राग-रागिनी बनकर मुँह से निकलती थीं। उल्लास का ठिकाना न था।

सबसे पहले छोटी बहन मिली। उसके हाथ में मैंने मिठाई का दोना और बेल-बूटे काढ़ने की रेशमी लच्छियाँ रख दिया। लच्छियों के लिए उसने लिखा था। फिर पिताजी मिले। मैंने उनके पैर छुए, आशीर्वाद पाये। अन्दर जाकर माँ के भी पैर छुए। उन्होंने बलाएँ लीं, जल-पान कराया और फ़ौरन खाने की थाली भी सामने ला रक्खी। माँ की ममता क्या जाने कि लड़के के एक ही पेट होता है!

खा-पीकर मैं निश्चिन्त हुआ। पिताजी कचहरी चले गये। सबसे भेंट हो गई, पर अभी तक मुझे श्रीमती के दर्शन न हुए। मैं आश्चर्य में था। पर, किसी से कैसे कहता ? पत्नी से मिलने के लिए उतावलापन प्रकट करना भले लड़कों का काम नहीं।

मैं मन मारकर बाहर की बैठक में आ लेटा। फिर दो-चार करवटें बदल कर मैंने छोटी बहन को पुकारा। वह आई। मैंने पूछा—"बिट्टी, तू आज स्कूल नहीं गई ?"

"नहीं," वह बोली।

क्यों नहीं, यह पूछने की मुझे आवश्यकता न थी।

"तेरी भाभीजी कहाँ है ?" मैने धीरे से पूछा। दिल धड़क रहा था।

"भाभीजी ?"—वह बोली—"वह तो गईं।"

"गईं ?"—मैं उठ बैठा, बोला—"कहाँ गईं ?"

"लखनऊ।"

यह जानकर मेरे प्राण सूख गये। लखनऊ मे मेरी ससुराल थी।

"तेरी भाभी मायके चली गईं ?"—मैने सन्देह मिटाने के लिए दोबारा पूछा। सहसा विश्वास न होता था।

"हाँ दादा, चली गईं।"

"सच ?"

"हाँ।"

"कब गईं ?"

"कई दिन हो गये।"

"जाना था तो उन्होने मुझे पत्र क्यो नहीं लिख दिया था ?"

"मै क्या जानूँ ?" बिट्टी ने भोलेपन से कहा।

मै फिर लेट गया। अब मैं बेदम हो गया था। चुपचाप पड़ा रहने के सिवा कोई चारा न था।

बिट्टी अन्दर चली गई।

इस समय मेरे क्रोध का वारापार न था। जी जल रहा था—जला जा रहा था। ऐसे समय में कोई मेरे आगे आता तो

उसकी कुशल न थी। अच्छा हुआ। कोई नहीं आया—न माँ, न चिट्ठी। मेरा सारा ग़ुस्सा श्रीमती पर था। कितने तिकड़म से मैंने छुट्टी प्राप्त की, और आप लखनऊ चली गईं। स्त्रियों की लीला तो देखिए! एक मैं था कि इतने सारे भेंट के सामान लादकर बड़ी आशा से दौड़ा आया, और, एक वे थीं कि उन्हें मायके की पड़ गई थी। प्रेमोपहार का एक-एक सामान अब दिल में सौ-सौ चुटकियाँ काटता था। ओफ! उन्हें जाना ही था तो वे कम-से-कम सूचना तो दे देतीं। मैं व्यर्थ क्यों परेशान होता?

उसी ग़ुस्से में मैंने उठकर श्रीमती के नाम एक लम्बा पत्र लिखा। पूरे दस पृष्ठ थे। हर वाक्य में दिल के फफोले फोड़े गये थे। शिकायतों में जान थी, उलाहनों में जीवन था। उसी दम जाकर मैं पत्र को डाकख़ाने में छोड़ आया। लखनऊ की डाक शीघ्र ही निकलने को थी।

आकर फिर लेट रहा। धूप में दौड़ने के कारण थकावट, और थकावट के कारण नींद आ गई। सपने में देखा कि रङ्ग-बिरङ्गे कपड़ों से ढँकी हुई मिठाई की तश्तरियाँ आगे आईं, किन्तु रूमालों को हटाया तो उन्हें बिलकुल ख़ाली पाया। ख़ैर!

जागने पर जी कुछ हलका हो चुका था। अब मुझे ईसाई ज्योतिषी का ध्यान आया। आख़िरकार उसकी बात सच निकली मैंने मान लिया कि प्याले और ओठों के बीच में सचमुच कई बार प्याले के छूट पड़ने का डर रहता है।

शाम होते ही मैं गम ग़लत करने के विचार से यार-दोस्तो से मिलने के लिए निकल गया। इधर-उधर जी बहलाकर बड़ी देर मे लौटा। मैने निश्चय कर लिया कि बोरिया-बिस्तर बॉध कर कल सवेरे की ही गाड़ी से लौट जाऊँगा। अब यहॉ रहने से क्या लाभ ?

घर आकर मैंने चुपचाप रात का खाना खा लिया। मैं किसी से कुछ बोला नही।

मॉ ने पूछा—"क्या बात है बेटा ?"

मैंने कोई उत्तर न दिया।

पिताजी ने पूछा—"जी कुछ ख़राब है क्या ?

मैं चुप रहा।

"लल्ला रूठा क्यो है ? क्या किसी ने कोई ग़ुस्से की बात कह दी है ?" पिताजी ने मॉ से पूछा।

"कुछ समझ मे नहीं आता," मॉ ने कहा।

झुँझलाकर मैंने मन मे कहा—बहू को मायके जाने देने के पहले ही सोचा होता, अब क्या समझ मे आयेगा ?

बिट्टी बोली—"ग़ुस्सा तो दद्दा की नाक पर रहता है।"

मैंने किसी की कुछ भी नहीं सुनी। बिना कुछ बोले हुए, मैं ऊपर चला गया, और अपने सोने के कमरे मे जाकर, मुँह ढँक कर, लेट रहा।

थोड़ी ही देर मे कुछ आहट हुई। मैंने पूछा—"कौन ?"

"चुप रहो, मैं हूँ !"—चूड़ियों के खनकने के साथ उत्तर मिला।

"तुम ?"

"हाँ। देखते नही ?"

"यह कैसी बात है ?"

"मैं कही गई न थी।"

"तब बिट्टी ने क्यो कहा था ?"

"मेरे कहने से।"

"यह तुम्हे क्या सूझी ?"

"सिर्फ़ एक छोटी-सी शरारत !"

"क्यो ?"

"यह देखने के लिए कि तुम्हारे दिल मे मेरा कितना ख़्याल है।"

"देख लिया ? कितना है ?"

"तुम्हे क्यो बतलाऊँ ?"

———

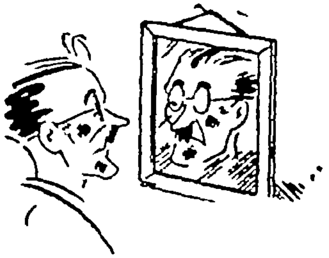

कलङ्क का सिन्दूर

'जिन्दगी' के फक्कड़ हीरो का अपराध फिर भी उतना सङ्गीन न था; क्योंकि प्रथम तो सिन्दूर का दाग़ केवल एक था, दूसरे वह कुर्ते पर ही लगा था, तीसरे हीरोइन जो थीं, वे हीरो महाशय की, बस, 'श्रीमती जो कुछ भी तुम हो'—भर थीं। और यहाँ तो हमारी बातें बहुत ही बढ़ी-चढ़ी हुई थीं, क्रमशः—प्रथम तो दाग़ कई थे, दूसरे कपड़े पर नहीं, सीधे ठुड्डी और गालों पर लगे हुए थे, तीसरे सबसे बड़ी बात तो यह थी, कि हमारी वाली श्रीमतीजी कोई ऐसी-वैसी, एक्स-वाई-ज़ेड नहीं, साक्षात् विवाहिता ठहरीं!

"यह सिन्दूर के दाग कहाँ से लगा लिये?"—उनका प्रश्न यह था।

या तो प्राइमरी स्कूल के जीवन में दर्जा अव्वल के विद्यार्थी के रूप में डिप्टी इन्सपेक्टर के सामने इस प्रकार हमको सहसा निरुत्तर हो जाने का अवसर प्राप्त हुआ था, या फिर आज!

और कुछ न सूझा, तो दर्पण मे देखने के बहाने दो-चार मिनट सोचने का समय लेना हमने तत्काल उचित समझा। किन्तु दर्पण ने भी श्रीमती के पक्ष मे ही सम्मति दी। अभियोग निर्मूल न था, दाग वास्तव मे लगे थे—दो ठुड्डी पर, डेढ़ दाहिने गाल पर और एक नाक की चोटी पर! कुल साढ़े-चार!!

"हम क्या जाने!"—अन्त मे हमने उत्तर दिया, यद्यपि जानते थे, यह कोई सफ़ाई देना न होगा।

"वाह, यह ख़ूब रही!"—श्रीमती ने खातून की सम्पूर्ण कला को अपनी आकृति से प्रत्यक्ष करते हुए ताना मारा—"सारे मुँह पर किसी की माँग और मत्थे का सिन्दूर लग गया और बाबू साहब को खबर ही नहीं!"

न तो हम किसी की 'काजल की कूट पर सोती दीप-शिखा' से अपना मुँह झुलसवाने गए थे, न हमने किसी के सिर के 'श्याम घन-मण्डल' से अपनी खोपड़ी पर बिजली गिरवाने का दुस्साहस किया था। 'कञ्चन की लोक' वाली किसी की कसौटी पर सिर पटकने की भी नौबत नहीं आई थी। फिर हम-जैसे शस्त्रीकरण-विरोधी गाँधीवादी को किसी 'तिमिर के हिये मे तेज का तीर' मारने वाली या 'ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा' रख छोड़ने वाली से सिर लड़ाने की हिम्मत कहाँ? और मत्थे पर नई चलन के रुपए के बराबर टीका-बिन्दी लगाने वाली देवियो के विरुद्ध खोपडी-टक्कर-प्रतियोगिता मे भाग लेने के कायल भी हम नही! तब आखिर सिन्दूर के चिह्न हमारे मुँह पर क्यो लग गये?

हम चुपचाप सोचते ही रहे। सोचते-सोचते यह सोचने लगे, कि 'क़ायदे-आज़म' के 'मुक्ति-दिवस' पर, और तो और, भला उन गोरे लाट साहबान ने क्यों चुप्पी साध ली थी, जो स्वय कॉग्रेसी मिनिस्टरों को योग्यता का सर्टिफिकेट दे चुके थे। हमारा सोचना चुपचाप जारी रहता; पर हमारी इस चुप्पी से श्रीमती का सन्देह पक्का हो गया।

लेखकों के 'दो शब्द' की भॉति स्त्रियों के जो चार शब्द बड़े भयङ्कर होते हैं! वे यों हैं—

(१) "हमें
(२) "मायके
(३) "भेज
(४) दो।"

श्रीमतीजी ने गिने-गिनाए यही चार शब्द कहे। हमारी राजनीतिक सिट्टी-पिट्टी भूल गई।

"व्यर्थ में ज़रा-सी बात पर, रुष्ट हो जाना ठीक नहीं," कहा हमने।

उन्होंने बड़ी-बड़ी ऑखों को और भी विस्फारित करके पूछा—"यह ज़रा-सी बात है?"

ज़रा-सी नहीं, तो और क्या, सिन्दूर सारे शरीर में थोड़े ही लगा है!—हमने मन-ही-मन सोचा, पर कहा—"हो न हो, यह दाग़ तुम्हारी ही मॉग से लग गये हों, क्या ठिकाना? नाराज़ न !"

क्रोध आ गया उन्हे--तब न बना तो, अब न बना! श्रीमती बोली--"क्या कहा, मेरी माँग से? लेकिन मैं इतने गहरे रङ्ग का सिन्दूर नही लगाती!"

"हमारी चमड़ी तुम्हारी तरह एकदम गोरी नही," हमने खुशामद का पुट देते हुए कहा—"इससे सिन्दूर के शेड मे थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ जाना कोई आश्चर्य की बात नही!"

हमारे कथन के पूर्वार्द्ध ने जहाँ उनके मुखमण्डल पर एक क्षण के लिए कुछ कोमलता झलका दी, वहाँ उत्तरार्द्ध ने उस पर पानी-फेर दिया!

"शेड मे अन्तर?" वे कहने लगी, "पर, मैंने कल जो सिर धोया था?"

"फिर भी कुछ न कुछ सिन्दूर माँग मे लगा रह सकता है।"

"अरी मेरी माँ! इनकी धाँधली तो देखो! मुनियाँ के मारे मुझे छुट्टी ही कब थी, कि तुम्हारे कमरे की ओर पैर रख सकती?"

"तुम न सही, मुनियाँ की माँग !" बहस के जोम मे ग़लती गई हो। 'मुनियाँ' लड़की नहीं है। पुरोहित महाराज ने हमारे लड़के का नाम मुनियाँ रक्खा है, नाक छिदवाने की भी योजना है, उसके जीने के लिए यह सब आवश्यक बताया गया है!

"तुम्हें हो क्या गया है?" श्रीमती ने कहा, "मुनियाँ लड़की भी होती तो तीन साल की बच्ची की माँग मे सिन्दूर

चिरसङ्गिनी को साथ लेने का अवसर ही न मिल सका था ! किसी 'इवाकुई' की तरह ।

श्रीमती, आश्चर्य-चकित हो बोलीं—"कुशल तो है ? सुनो तो !"

सुन ही लेते, तो कुशल कहाँ थी ?

"बात क्या है ?"—कहकर वह भी दौड़ पड़ीं । उनके पीछे मुनियाँ ।

परन्तु उनके पहुँचते-न-पहुँचते साबुन अपना काम कर चुका था । हमने मुँह ही नहीं, सिर भी धो डाला था ! उतावली मे कुरता तक तर हो गया ।

"क्या मामला है ? अभी न टट्टी गए, न चाय पी, आज सवेरे-सवेरे सिर भिगोने की सनक कैसे सवार हो गई ?"

"कुछ नहीं । एक बुरा सपना देखा था ।"

"क्या देखा ?"—वे उत्सुक हो उठीं ।

हमने कहा—"दिखलाई यह पड़ा था, कि तुम्हे एक देव मायके की ओर खींचे लिये जा रहा है । आँख खुलने पर भी देव की आकृति दिमाग से न उतरी, तो मुँह धो डालना हमने ठीक समझा !"

बात उनकी समझ मे बैठ गई और इससे उन्हे कुछ सन्तोष ही हुआ होगा, कि हम स्वप्न मे भी उनके मायके जाने की बात देखते-सुनते है, तो घबरा उठते है ।

लेकिन, बकरे की माँ कब तक खैर मनाती ? तीसरे दिन प्रातःकाल फिर हमारे मुँह पर पहले की तरह सिन्दूर के चार-

पाँच चिह्न मौजूद ! हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं। किसी परी या चुड़ैल की शरारत तो नहीं ? हम बेतहाशा स्नानागार को भागे। किन्तु दुर्भाग्य से बीच रास्ते में श्रीमती से मुठभेड़ गई। सहसा और कुछ न सूझा, तो हमने दोनों हाथों से अपना मुँह कस कर ढँक लिया।

पर वे कब की यों छोड़ने वाली ?—"क्या हुआ ?"

हमने सोचा, एक चुप सौ बला टालती है।

"क्या हुआ ?"

हम चुप।

वे चीख़ पड़ीं—"अरी माँ ! इन्हें क्या हो गया ?"

यह वाक्य उन्होंने इतने ज़ोर से कहा कि एकदम सवेरे-तड़के का समय न होता तो पास-पड़ोस के लोग आ जुटते।

श्रीमती की कमी उनका सपूत, मुनियाँ, पूरी करने लगा—माँ को परेशान, बाप को मुँह दबाये देखकर एकदम रो पड़ा।

अब हमने सोचा, कहावत ग़लत है, एक चुप अभी सौ बला पैदा कर देगी, मजबूरन कहा—"कोई बात नहीं, घबराने की कोई बात नहीं।"

"तब मुँह क्यों पकड़ रक्खा है ?"

"कुछ नहीं, कोई बात नहीं," हमने नए शब्दों के अभाव में वही बात दुहराई।

"तब आखिर मुँह क्यों......?" वे भी अपनी बात दुहराने को थीं, कि रुक गई। फिर बोलीं—"क्या आज भी कोई सपना देखा है?"

हमने कह तो दिया कि "हाँ", पर यह न सोचा कि आगे क्या जवाब देंगे।

"सपना तो सपना, झूठा होता है। भला इसमें मुँह बन्द करने की क्या बात? हाथ हटाओ।"

"नहीं-नहीं, सपना नहीं था।"

"फिर?"

"सचमुच का एक देव.....।"

"अरी मेरी माँ!!!"—उन्होंने साँस रोककर कहा।

कहीं हार्ट न फेल हो जाय, इसलिए हमने बात बदल दी—"देव क्या, नहीं, बात यह थी, कि एक आवाज़, आकाशवाणी की तरह, सुनाई पड़ी, कि 'सुनो, तुम्हारी पत्नी सवेरे-सवेरे तुम्हारा मुँह देख लेगी, तो बड़ा अशुभ होगा।' मनहूस भी बने !

"वाह !" वे बोलीं, "अपने पतिदेव का मुँह न देखूँगी, तो किस कलमुँहे का देखूँगी। खोलो मुँह।"

"नहीं, नहीं !"—हमने मुँह और भी कसकर दबा लिया।

"अब अशुभ नहीं हो सकता," वे बोलीं, "क्योंकि मैं उठते ही पहिले मुनियाँ का मुँह देख चुकी हूँ। मुँह बेधड़क खोल दो।"—कहकर वे मेरे हाथ खींचने लगीं।

"नहीं, हमें छोड़ दो !"—बोले हम।

"नहीं !"—वे।

"नहीं !"—हम।

"नहीं !"—वे।

"जाने दो" हमने कहा। "मुँह पर पानी डाल आयें, तो शायद अशुभ लक्षण न रह जायँ !"

"नहीं।"

"नहीं क्यों ?"

हम बल-पूर्वक स्नान-घर की ओर बढ़े। पर श्रीमती ने, न हाथ छोड़ा, न साथ।

मुँह पर साबुन लगाने के लिए हाथ अलग करते, तो भी उनकी दृष्टि सिन्दूर की छापों पर पड़ जाती। मामला बनता न देखकर हमने कुछ मुलायम पड़कर कहा—"मान जाओ आज,

फिर कभी न कहेंगे। आकाशवाणी का कहना था, कि कोई अनिष्ट हो जायगा।"

परन्तु, उन्होंने हमारे ढीले पड़ने का अनुचित लाभ उठा लिया, एक झटके से हमारे हाथों को डिगा ही तो दिया। हमने पलक मारते ही फिर मुँह छिपा लिया, पर अफसोस उनकी एक-दृष्टि हमारे मुँह पर पुती हुई कालिख पर पड़ चुकी थी।

"हूँ!" तेजी के साथ नाक से हवा बाहर फेककर उन्होंने कहा—"अब मैं समझी। कल वाले तुम्हारे सपने में देव ने ठीक ही कहा था।"

और—

आकाशवाणी भी सच निकली—अशुभ हुआ और होकर रहा—शाम को ऑफिस से आने पर देखा, श्रीमती के ट्रङ्क का पता नहीं, 'मुनियाँ' भी नज़र न आया, नौकरानी से मालूम हुआ, कि दोपहर में दो बजकर दस की गाड़ी से श्रीमतीजी मायके चली गईं। हम मन मारकर रह गए।

इतना सब हो जाने पर भी हमारा पिण्ड सिन्दूर से न छूटा। नित्य प्रातःकाल, फिर भी, मुँह पर दाग लगे ही रहते। शैतान की लीला देखिए!

हमने सोचा, पुलिस वाले बडे-बड़े ख़ूनों का पता लगा लेते हैं, तो सिन्दूर की क्या बात? पर डर यह था, कि कहीं वे अपने अभ्यास और स्वभाव के अनुसार इसे भी ख़ून का मामला न समझ बैठें! और सब से विचित्र और हास्यास्पद बात तो यह थी, कि पुलीस में बाकायदा इसकी रिपोर्ट लिखवाई कैसे जाय

कि हमारे मुँह मे रात को सिन्दूर अपने आप पुत जाता है। इसलिए हमने अपने पुराने मित्र बालमुकुन्द, सिविक गार्ड, से राय लेना ठीक समझा।

बालमुकुन्द ने एक चतुर जासूस की भाँति भेद लेना आरम्भ किया। घर-द्वार देखा, हमारा कमरा देखा-भाला, खिड़कियाँ देखीं, कि यदि कोई व्यक्ति प्रवेश कर सकता है तो किधर से, कैसे ? फिर फर्श की छानबीन की, कि शायद किसी अपरिचित के पद-चिह्न दिखलाई पड़ जायँ, बिछौना भी देखा गया कि उँगलियों के चिह्न हों, तो सूत्र मिल जाय, रजाई की भी उलट-पलट की गई। सहसा बालमुकुन्द चिल्ला पड़े—"मिल गया, भेद मिल गया !"

हमने सोचा, शायद कोई सूत्र हाथ लग गया।

फिर कुछ ठहरकर बालमुकुन्द ने कहा—"पर इसकी दवा हमारे पास नहीं। किसी डाक्टर के पास जाइए और कहिए कि कोई ऐसी दवा दे, कि पसीना बहुत न निकला करे !"

हम चकित थे।

"और," बालमुकुन्द ने कहा, "बहू को चिट्ठी लिख दीजिए, कि लौट आये, उनकी सौत का भण्डा फूट गया !"

"सौत ?"

"हाँ, सौत कहने से मेरा मतलब उनकी सौत से ही है। रुई स्त्रियों की सौत नहीं तो और क्या ? 'रुई-दुई' का प्रश्न है।"

"ऐ !"

"यह रजाई कब बनवाई थी ?"

"आज पाँच-सात रोज़ हुए।"

"उसी दिन से आप के मुँह पर सिन्दूर के दाग पाए जाते हैं न ?"

हमने हिसाब लगा कर देखा कि बालमुकुन्द का अनुमान ठीक था।

बालमुकुन्द—"हिन्दुस्तानी घिस-घिस है, देशी बनी चीजें यों ही धोखा देती है। मेरी राय है कि बाइकॉट स्वदेशी का होना चाहिए!"

"देखो बालम-कुन्द महराज!"—हमने कहा—"जब से तुम सिविक गार्ड-विभाग के टुकड़े खाने लगे, तब से तुम्हारा दिमाग़ ही पलट गया; देश के दुश्मन न बनो।"

"दुश्मनी की बात नहीं। यह रज़ाई ही तुम्हारी सारी विपत्तियों की जड़ है!"

"कैसे ?"

"इसका रङ्ग उतना पक्का नहीं; लाल छूटता है। लड़ाई के दिन हैं, ये रंग ।"

———

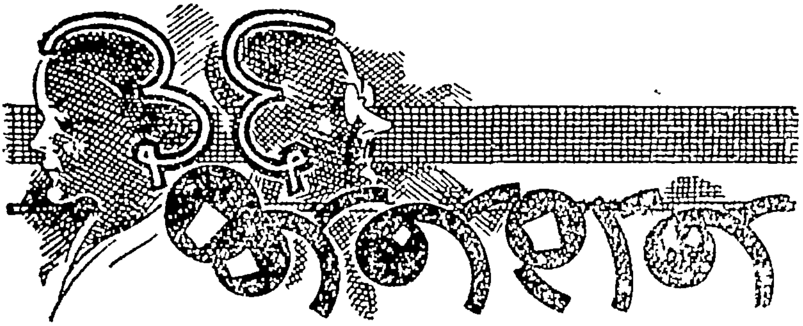

बात बढ़नी थी बढ़ गई। हम बात की बात मे उलझकर दो-दो चोचे कर बैठे। 'हम' से मतलब हमी दोनो से है--अर्थात् श्रीमती से और मुझसे—जिन्हे, सच पूछिये तो, अग्नि को साक्षी देकर की हुई प्रतिज्ञाओ के अनुसार, एक-दूसरे के लिए 'एमरी-विदो' कठोरता न ग्रहण करनी चाहिए।

दोष किसका था, यह न पूछिए। जिस संकोच के कारण हमारी गोरी सरकार कांग्रेस मंत्रि-मण्डलो को अपने 'युद्ध-उद्देश्य' नही बतलाना चाहती थी, उससे कुछ मिलता-जुलता-सा संकोच गार्हस्थ्य 'युद्ध-उद्देश्य' के स्पष्टीकरण मे भी उपस्थित होता है। परदे की बाते प्रकाशित करना सदैव निरापद नही हुआ करता।

किसी भी स्त्री के कानो के ऊपर का भाग मेरे लिए सदा पहेली रहा है। विशेषतः अपनी श्रीमती से संबंधित प्रश्न जब उठता है। तो यह पहेली मेरे लिए और भी दुरूह हो जाती है।

नारी की बुद्धि का कार्यालय विचित्र है, उसकी सारी व्यवस्था विचित्र है। उसे मैं कभी न समझ सका और शायद मेरे ऐसे करोड़ों अन्य साथी भी कभी न समझ सकेंगे।

उसी दिन की लीजिए।

वैसे बात कोई बहुत गम्भीर न थी। केवल यूँही-सी थी। सारे झगड़े की जड़ में एक छोटी-सी वस्तु थी। और कुछ नहीं, बस, एक इयररिंग, जो मेरी बैठक में मिला। खेद इतना ही है, कि वह शुद्ध सोने का न था। नहीं तो शायद श्रीमती रुष्ट होने के स्थान पर इस प्राप्ति से उलटे अति प्रसन्न होतीं।

मेरी बैठक के सामान का रूप सँवारते समय वह इयररिंग श्रीमती के हाथ लगा। उन्होंने उसे मुझे दिखलाया। मैंने देखा। वह बहुत मूल्यवान् न था। फिर भी अच्छा था। गिन्नी के सोने की पतली जंजीर के नीचे शिशु की अलकों-सी घूमी हुई तीन पत्तियाँ, जिनमें हलके नीले रंग का एक छोटे गोल शीशे का नग फँसा हुआ तिलमिला रहा था।

श्रीमती को असन्तुष्ट देख मैंने कहा—"इसमें हमारी क्या हानि है? इयररिंग यदि थोड़े सोने का बना हुआ है तो वही सही। हमने उसे दाम देकर तो लिया नहीं।"

शायद उन्होंने मेरा मतलब नहीं समझा।

सान्त्वना देने के लिए मैंने फिर कहा—"इसका नग काँच का है तो क्या हुआ? अवसर आयेगा तो तुम्हारे लिए असली नीलम-जटित इयररिंग बनवा दूँगा।"

इस सीधी-सी बात पर एक वाद्-विवाद् छिड़ गया। मैंने कहा न, औरत के दिल की दुनिया निराली होती है। उसमे बहुधा चींटी के अण्डे से हाथी का बच्चा पैदा हो जाता है।

विदेशी ठीक ही कहते हैं। भारत विचित्रताओ का देश है। हमारी गृहस्थी की यह रीति दुनिया से निराली है कि तनातनी व्यक्तियो मे होती है, किन्तु हम रूठने लगते हैं अन्न से। क्रोध उतारने की यह शैली हम भारतीयो की अपनी है—पेटेण्ट। इसे सुनकर, पिस्तौल और कानून की सहायता से झगड़ो का निपटारा करनेवाले विदेशी, दाँतो तले उँगली दबाने को मजबूर न हो तो क्या हो ?

जो भी हो, उस दिन खटपट हो जाने के बाद मेरी श्रीमती ने अत्यन्त गम्भीरता-पूर्वक कहा—"मुझे आज भूख बिलकुल नही है। तुम्हारे लिए मैं चार रोटियाँ सेक दूँगी।"

मै श्रीमती का आभार स्वीकार करने के मूड मे बिलकुल न था। बोला, "मेरे लिए बखेड़ा करने की आवश्यकता नही।"

तब उन्होने बतलाया, पिछली बार न जाने कौन-सा व्रत उनका छूट गया था। आज उसी के बदले उपवास करना उनके लिए नितान्त आवश्यक था।

"मेरी एनो'ज़ फ्रूट-साल्ट की शीशी कहाँ है ?" मैंने पूछा—"मेरे पेट मे आज दर्द हो रहा है !"

फलतः चूल्हे मे आग पड़ने की नौबत दिन भर नही आई। दिन तो, ख़ैर, किसी प्रकार कट गया। पर, आगे निभना कठिन

था। यह पेट के 'डेड-लॉक' की समस्या थी, भारतीय राजनीति की नहीं कि जब तक जी चाहता, टाली जा सकती।

शाम को सात बजने पर, अमरीका के मजदूरों की भाँति मेरे पेट ने अपनी माँग का प्रश्न उठाया। क्रमशः प्रश्न ने गम्भीर रूप धारण किया और आँतें कुछ देर में स्पष्ट रूप से कल-कल करने लगीं।

तब मैं आज का समाचार-पत्र उठाकर बड़े ध्यान से बङ्गाल-सहायता-कोष के दाताओं और उनके दान का विवरण पढ़ने लगा। पहले मैं इसे कालम काले करना समझता था और बिना देखे ही छोड़ देता था। पर आज यह सूची भी मुझे रोचक लग रही थी। थोड़ी देर तक मनन करने के पश्चात् मैं भी बङ्गाल को सहायता के लिए कुछ बचाने की आवश्यकता का अनुभव करने लगा।

किन्तु मानव का मन पुण्य-चिन्तन में बराबर नहीं लगा रह सकता। जब किसी प्रकार मुझसे नहीं रहा गया तो मैं उठा, और कपड़े पहनकर बाहर निकलने को तैयार हो गया। मैं जानता था कि इस समय भी चूल्हा जलने की आशा करना युद्ध-काल में गौराङ्ग महाप्रभुओं से शासन-अधिकार पाने की दुराशा करना होगा। कारण यह कि श्रीमती के पिछले व्रत-दिवस का बदला अभी पूरा नहीं हुआ था।

फिर भी, रंग जमाने के लिए, जाते-जाते श्रीमती को सुनाकर मैंने कहा—"मेरे हिस्से का भोजन नहीं बनेगा। मेरे पेट में अब भी मीठा-मीठा दर्द हो रहा है।"

बात कुछ झूठ भी नही थी। सचमुच, अब मेरे पेट मे कुछ-कुछ दर्द होने लगा था। मै सोच रहा था—दुनिया के तर्क-शास्त्र शायद स्त्रियो के लिए नही बने है। मेरा यह मत अनुभव-सिद्ध है। कोई माने या न माने, मै तो यही कहूँगा कि किसी नारी से कभी बहस न करो। यह केवल इसलिए नही कि बहस मे तुम उससे सदा हार जाओगे, बल्कि इसलिए भी कि मुझे डर है, तुम्हारी जीभ के अपराध का फल तुम्हारे पेट को भोगना पड़ेगा। यहाँ तक कि यदि कोई 'उच्चाटन-मंत्र' की खोज मे है तो उसे इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही। उसके लिए स्त्री-पुरुष की बातचीत मे कोई विवाद-ग्रस्त विषय छेड़ देना ही पर्याप्त होगा।

चौक की दूकानो पर शुद्ध वनस्पति मे छनती हुई कचौड़ियो को देखकर मुझे यह सूझा कि सुन्दरी के मुख के लिए ससार मे पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक सार्थक और कलंकहीन उपमाएँ हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि नवीनता की खोज मे रहने वाले कवियो को उषा-काल के दृश्य मे आकाश की नीली कढ़ाई और उसमे छनती हुई लाल-लाल कचौड़ी क्यो नहीं दिखलाई पड़ी।

मुझे याद आया कि एक चिकित्सक के कथनानुसार वनस्पति के और शुद्ध घी के गुणो मे केवल चार-पाँच का अन्तर है। पहले भले ही मैं इस बात को मानने के लिए कभी तैयार न होता, परन्तु आज मुझे यह बिलकुल सच बात लग रही थी।

फिर भी मै किसी दूकान के निकट नहीं गया। निराश प्रेमी की भाँति, अलग खड़ा, कचौड़ियो के प्रफुल्लित रूप का रस-पान दूर से ही करता रहा। इस प्रकार 'सौंदर्य सराहने के लिए है, छूने के लिए नही' की कहावत मे मै अपना विश्वास प्रकट कर रहा था।

एक ओर गरमागरम इमरतियाँ भी वनाई जा रही थी। उनके सम्बन्ध मे भी मेरे विचार कम ऊँचे नही उठ रहे थे। यह किसी हद तक ठीक भी है कि जीवन मे कभी-कभी कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं, जब प्रेमिका की अपेक्षा एक इमरती अधिक वाञ्छनीय होती है। इमरती तो इमरती है, मै इस समय सूखे चने और गुड़ को देवताओ का भोग कह सकता था।

और भी कई प्रकार के रसीले पदार्थ मेरे मार्ग मे प्रलोभन उपस्थित कर रहे थे, किन्तु मै किसी प्रबल तपस्वी की भाँति सबसे लड़ता हुआ बढ़ता जा रहा था।

यह बात न थी कि श्रीमती ने मेरे जेव मे कुछ पूँजी नहीं रहने दी थी। नही, वास्तविक कारण यह था कि मुझे घर मे भूखी-प्यासी और झुँझलाई बैठी हुई श्रीमती का ध्यान था। यही ध्यान मुझे किसी दूकान की ओर पैर नही बढ़ाने देता था। यह इसलिए नहीं कि वे भूखी-प्यासी थी, बल्कि इसलिए कि वे भूख-प्यास से झुँझलाई हुई थी और, मेरे पल्ले जो रुपये-पैसे थे, उनकी पूरी जानकारी उन्हे थी। मै कुछ खर्च कर देता तो भय था कि चोरी से खा लेने का भेद उन पर खुल जाता।

इससे मेरी दुर्बलता सिद्ध होती और सारी अकड़ मिट्टी में मिल जाती। यह मुझे कदापि स्वीकार न था।

फिर मेरे मन में एक दूसरा विचार उठा—"हो सकता है, मैं इधर चप्पल चटकाता फिरता रहूँ, उधर मेरी अनुपस्थिति में श्रीमती चटपट कुछ तैयार करके खा-पी ले और मैं जान भी न पाऊँ। इस विचार ने मेरी क्षुधाग्नि में घी का काम किया। किन्तु, पास के पैसों का हिसाब टेढ़ा था।

मैं सोचने लगा, मेरे लिए भी एक मार्ग है। मैं किसी मित्र के यहाँ भोजन कर सकता था उस दशा में श्रीमती के देवता भी भेद नहीं पा सकते थे, पर, किस मित्र के यहाँ, यह एक विकट प्रश्न था। इस महँगी में ऐसा कौन था जो सत्कार करने में पैसों का मुँह न देखता ? फिर खाद्य-नियंत्रण के इस युग में, जब तोल-तोलकर ख़ुराक मिलती है, अतिथि का स्वागत करना किञ्चित जटिल प्रश्न हो जाता है।

अच्छी याद आई। एक दक्षिणी सज्जन थे। वे और उनकी धर्मपत्नी दोनों खिलाने-पिलाने के मामले में दिल खोलकर व्यय करने वाले थे। मैं उनके यहाँ कई बार खा-पी चुका था। आशा थी कि उनके यहाँ पहुँच जाने पर बिना मुँह जूठा किये न लौटना होगा।

मैंने उन्हीं के घर की राह पकड़ी।

पेट में मचलती हुई भूख के साथ ही हृदय में एक शङ्का भी करवटें ले रही थी। मुझे राजा भोज की कहानी याद आ गई। जब उन पर विपत्ति पड़ी तो भुनी हुई मछली भी जल में

जा पड़ी थी। मैं इस कथा पर भले ही विश्वास न करूँ कि भुनी मछली अपने आप उछलकर जल में पहुँच गई, पर यह पूर्ण रूप से सम्भव था कि संयोग से मछली अचानक उनके हाथ से छूट पड़ी हो। डर था, कहीं मेरी भी राजा भोज की सी दशा न हो।

परन्तु,सौभाग्य से दक्षिणी सज्जन अपने घर पर उपस्थित मिल गये। मैंने अपने देवताओं को धन्यवाद दिया।

वे भले आदमी इस समय साहित्य का आनन्द ले रहे थे। मेरी मनस्थिति ऐसी न थी कि मै उनका साथ देता। खाली पेट मुझे साहित्य-चर्चा करना ऐसा लग रहा था, जैसे कोई सुन्दरी जर्मनी के कारखानो से यह आशा करे कि वे बमो के स्थान पर उत्तम श्रेणी की लिपस्टिको के अभाव को दूर करने की चिन्ता करेगे।

वे बोले—"महाकवि टैगोर कह गये हैं – तू अर्द्ध नारी है, अर्द्ध चमत्कार।"

मैंने कहा—"मैं होता तो यह विभाजन इस प्रकार करता—नारी एक तिहाई नारी है, एक तिहाई चमत्कार है और एक तिहाई क्रोध।"

मै शीघ्र मतलब की बात पर आना चाहता था। उन्होने आँखो पर से चश्मा उतारकर मेरी ओर ध्यान दिया।

"विचित्र बात है," वे बोले, "क्या आज घर में कुछ खट-पट हो गई है?"

आदमी अनुभवी थे। मैंने उत्तर दिया--"नही तो, ऐसी कोई बात नहीं हैं।" पर मेरी मुख-मुद्रा इसके विरुद्ध बोल रही थी।

"सुनती हो ?" दक्षिणी सज्जन ने अपनी पत्नी को जोर से सम्बोधित कर कहा--"ये क्या कहते हैं ?"

उनकी धर्मपत्नी निकट आईं। अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ मेरा अभिवादन करती हुई बोली--"उनको (मतलब मेरी श्रीमती से था) क्यो नहीं लाये ?"

मैंने कहा--"आज वे अधिक व्यस्त हैं।"

एकाएक दक्षिणी सज्जन ने हँसकर अपनी पत्नी से कहा--"आज इनका कहना है कि नारी एक तिहाई क्रोध की बनी हुई होती है।"

"अच्छा!" उनकी धर्मपत्नी ने हँसकर पूछा--"आज किसी बात पर मेरी सखी ने आपको कुछ फटकार दिया है क्या ?"

"नही" मैंने सिर झुकाकर कहा।

उनके पतिदेव बोले--"कुछ दाल मे काला अवश्य है।"

"नही", मै बोला।

"मै मान नही सकती। ऐसे ही कोई बात जरूर है।"

मैंने फिर कहा--"जी नही।"

"मैं कहती हूं, कुछ न कुछ बात जरूर है। आप भले ही न बतलाये!"

"आपसे क्या कहूँ ?" मैंने कहा, "औरतों से ज्यादा बातें करते डरता हूँ। आप लोग ज़रा-से में नाराज़ हो बैठती हैं और फिर मुश्किल हो जाती है।"

"क्या हमीं नाराज़ होती हैं, मर्द नहीं ? इन्हीं से पूछो, अभी उस दिन ज़रा सी बात पर यह मुझसे कितना लड़े थे--जिस दिन हम आपके यहाँ गये थे, उस दिन।"

"तुम्हारी गलती थी," दक्षिणी सज्जन ने भौंहें सिकोड़कर कहा।

"मेरी कोई ग़लती न थी," उनकी धर्मपत्नी ने कहा।

"थी कैसे नहीं ?" पतिदेव ने कड़े स्वर में कहा।

मैं डरा, यहाँ एक और झगड़ा न खड़ा हो जाय। किसी प्रकार मैंने पतिदेव को बात बढ़ाने से रोका।

वे अकेले होते तो मैं उन्हें आज के अपने अनुभव सुनाता। बतलाता कि बहस से जीत कचहरी में होती है, घर में नहीं। स्त्री के आगे वकील और दलील की एक नहीं चलती। कहता कि एक पत्थर के टुकड़े पर भले ही तुम्हारी बहस का असर हो जाय, किन्तु पत्नी से ऐसी आशा करना व्यर्थ है। कुशल इसी में है कि दूरदर्शी पति वाद-विवाद से सदैव बचे रहें। पति-पत्नी के बीच वाद-विवाद सबसे टेढ़ा और खतरनाक विषय सिद्ध होता है। इसका प्रभाव बुद्धि पर नहीं, पेट पर पड़ता है।

अच्छा हुआ, बात जहाँ की तहाँ रह गई।

अन्ततः मुझे उनका निमन्त्रण स्वीकार करके भोजन ग्रहण करने के लिए साथ बैठना ही पड़ा। मैंने लाख इनकार किया, पर उन्होंने एक न सुनी।

उनकी धर्मपत्नी बैठी हुई हम दोनों को आवश्यकतानुसार वस्तुएँ दे रही थी। इतने मे बाहर से जंजीर खटखटाने की आवाज़ आई।

कोई मर्द थाली छोड़कर उठ नही सकता था। उनकी धर्मपत्नी को ही जाना पड़ा। द्वार खुलने की आवाज़ आई और साथ ही आई यह आवाज़—"दरवाज़ा खोलने मे तुमने इतनी देर क्यो लगा दी ? क्या अभी से सो गई थी ?"

मै सन्न रह गया। यह मेरी अपनी श्रीमतीजी की बोली थी।

मुझे खाना-पीना सब भूल गया। मित्र की दृष्टि मे अपनी मर्यादा को बनाये रहना चाहिए, यह भी भूल गया। मैंने गिड़-गिड़ाकर धीरे से कहा, "कृपया जल्दी से कोई ऐसी जगह बतलाइए, जहाँ मैं छिप सकूँ।"

मैं हाथ धोने का उपक्रम करने लगा। दक्षिणी सज्जन के आश्चर्य का ठिकाना न था। मैंने फिर कहा, "जल्दी बतलाइए।"

"बात क्या है ? छिपने की क्या आवश्यकता ? अभी तो आपने पूरा खाना भी नही खाया।"

मुझे उनकी बुद्धि पर तरस आ रहा था। किन्तु कुशल यह थी कि उनकी धर्मपत्नी उनसे अधिक समझदार थी। उन्होने मेरी श्रीमती को सीधे रसोई-घर मे न लाकर, दूसरे कमरे मे ले जाकर बिठा दिया।

दक्षिणी सज्जन ने मुझे गुमसुम पाकर कहा, "आप खाते क्यों नहीं ? परसी हुई थाली छोड़कर उठना ठीक नहीं।"

गोया मैं तकल्लुफ़ की वजह से खाना छोड़ रहा था और मैंने उनसे छिपने की जगह मानो अकारण ही पूछी थी, अथवा, वह मेरी कोई क्षणिक सनक थी और अब गोया उस सनक का दौरा ख़त्म हो चुका था।

मैंने उनसे प्रार्थना की, "कृपया चलकर पीछेवाला दरवाज़ा खोल दीजिए। मैं निकल जाऊँ।"

उन्होंने पूछा, "क्यों, बात क्या है ?"

मैंने कहा, "ज़रा धीरे-धीरे बोलिए।"

उन्होंने कहा, "डर किसका है ? क्या आप समझ रहे हैं कि कोई और आया है ? नहीं, आपकी श्रीमतीजी ही हैं; दूसरा कोई नहीं। आप घबराइए नहीं। इतमीनान से खा लीजिए।"

"नहीं, मुझे जाने दीजिए," मैं बोला।

किन्तु वे मुझे यों छोड़नेवाले न थे। अन्त में मैंने खीझकर कहा, "बात यह है कि आज मैंने अनशन कर रखा है। मैं नहीं चाहता कि श्रीमती मुझे खाते हुए पकड़ लें।"

उधर मेरी श्रीमती अपनी सहेली से कह रही थीं, "हज़रत रूठकर चले गये हैं, खायेंगे नहीं। पर मर्दों की बात का क्या भरोसा। मैं जानती हूँ, वे बाज़ार में जाकर अपनी उदर-पूर्ति अवश्य कर लेंगे। रह जाऊँगी मैं। यदि मैं घर में चूल्हा जलाती तो समझते कि हार गई। पर मैं क्यों हार मानने लगी ? वे

समझते हैं कि वही चएट हैं। पर मै इतनी मूर्ख नही हूॅ कि दिन-रात भूखी रहूॅ और आप मौज करके डकार लेते हुए घर लौटें।"

उनकी सहेली क्या कह सकती थी। वे मेरी उपस्थिति से अनभिज्ञ न थी।

फिर मेरी श्रीमती ने निहायत बेतकल्लुफी के साथ कहा, "तुम दो पूड़ियॉ खिला दोगी न?"

यह सुनकर मैंने एक लम्बी सॉस ली।

दक्षिणी सज्जन की पत्नी ने कहा, "क्यों नहीं? लड़ाई झगड़े किसके घर मे नही होते। अभी उसी दिन की तो बात है, जब हम तुम्हारे घर गये थे, यहॉ हम लोगों में तू-तू मैं-मैं हो गई थी। परसो ही तो...।"

"क्यों क्या हुआ था?"

"कुछ न पूछो। ये मर्द ज़रा-ज़रा-सी बात पर नाराज हो बैठते हैं। क्रोध तो मुझे भी बहुत आया था, पर मै पी गई थी।"

मेरी श्रीमती बोलीं, "मुझसे तो नहीं सहन किया जाता।"

उनकी सहेली ने कहा, "भला तुम्ही बतलाओ बहन, ज़रा-सी चीज़ के लिए बेहद बिगड़ना कहॉ तक उचित है। मेरे एक कान का इयररिंग न जाने कहॉ गिर गया। इसी पर आपने आकाश सिर पर उठा लिया। मैंने उसे जान-बूझकर तो खोया नही था। पर वे इसे मेरा हद दर्जे की लापरवाही बतलाते है।"

हठ

यों तो मैं एक भला आदमी हूँ, किसी सगे-सम्बन्धी के शुभागमन से प्रसन्न होता हूँ, और अतिथि का स्वागत करने के लिए सदा तैयार रहता हूँ, यही चाहिये भी; परन्तु यदि आगन्तुक महाशय श्रीमतीजी के भाई साहब हुए तो बात ही और होगी, विशेषतया जब वे श्रीमतीजी को ले जाने के लिए आये हो।

हुआ वही, जो मैं चाहता नहीं, श्रीमती के भाईजी ने पधारने का कष्ट किया, और—

श्रीमतीजी ने बोरिया-बिस्तर बाँध लिया।

"पत्र लिखना," मैंने कहा।

"पहले तुम लिखना।"

"नहीं, पहले तुम।"

"न! तुम पहले लिखोगे, तब मैं उत्तर दूँगी।"

"जी नहीं। तुम औरत हो, तुम्हे पहले लिखना चाहिए।"

"तुम मर्द हो, तुम्हे पहले लिखना चाहिए।"

"यह कोई कारण नहीं।"

"तो वह भी कोई कारण नहीं।"

"मतलब यह है कि तुम जा रही हो, जानेवाले को पहले हाल-चाल देना चाहिए।"

"उहुँ।"

यह बात यहीं रह गई, कोई निर्णय न हो सका।

"अच्छा, दीवाली तक लौट आना।"

"इतनी जल्दी नहीं, मैं कोई दौड़ का निशान छूने थोड़े जा रही हूँ।"

"त्यौहार यहीं मनाना उचित है।"

"यह कोई आवश्यक नहीं। एक बार दीवाली वहीं कर ली जायगी तो क्या हर्ज हो जायगा?"

"हो क्यों नहीं जायगा?"

"दीवाली में तुम भी वहीं आ जाना और तब उसके बाद मुझे साथ लेते आना।"

"मैं नहीं आऊँगा।"

"आओगे कैसे नहीं?"

"नहीं, दीवाली यहाँ होगी।"

"यह नहीं होगा।"

"होगी कैसे नहीं?"

"मैंने एक बार कह दिया। न मानोगी तो अच्छा न होगा।"

"मैंने भी कह दिया।"

"मान जाओ।"

"तुम्हीं मान जाओ ।"

"नहीं ।"

"नही ।"

यह मेरी कुछ स्वाभाविक प्रवृत्ति-सी हो गई है कि जब श्रीमतीजी मायके जाने को होती हैं, तब-तब मेरी बुद्धि का

न जाने कौन-सा ऐसा पुर्ज़ा ढीला पड़ जाता है कि मैं उनसे किसी न किसी बात पर उलझ कर झगड़ाकर बैठता हूँ। हो सकता है कि इसकी आड़ मे, उत्तेजक के रूप में, भावी वियोग का ध्यान रहता हो।

श्रीमतीजी मेरी इस प्रकृति से भली भाँति परिचित हैं, तभी शायद उसकी परवा भी नही करती। ये औरतें बाबा आदम के समय से ही अपने हठ की पक्की होती आई हैं। किन्तु इस

बार मैंने भी ठान लिया कि अपनी आन पर टिका रहूँगा, मैं मर्द हूँ, औरत नहीं, और श्रीमती औरत है, मर्द नहीं। मैं दीवाली में ससुराल नही जाऊँगा, श्रीमतीजी को ही यहाँ आना पड़ेगा।

बात यह है कि श्रीमतीजी के भाई साहब उस दिन कुत्ते की चाल से आये और गये बिल्ली की चाल से—साथ मे वह चूहा ले गये, जो छायावाद के हिसाब से हृद्तंत्री के तारों पर रेंगता है, जिसे आप साधारण बोल-चाल मे अरमान कहते है और जिसे मैंने दीवाली के लिए बड़े यत्न से पाल रखा था।

फलतः अब मै आधा रह गया हूँ। इसके दो अर्थ निकलते हैं और दोनो मुझ पर चौकस लागू होते है। एक तो यह कि ठीक से समय पर खाने-पीने को न मिलने से मै आधा रह गया। दूसरे यह—और यही पहले वाले का कारण भी है—कि अर्द्धाङ्गिनी के बिना आधा रह गया हूँ।

कुछ भी हो, निश्चय से डिगूँगा नही। और डिगूँ किस लिए? जब से गई हैं, तब से अभी तक मुझे कोई पत्र नहीं लिखा, जो मेरे हृदय को थोड़ी सान्त्वना देता। सकुशल पहुँच जाने की सूचना आई भी तो उनके भाई साहब के हाथ की लिखी हुई। कहाँ उनका खुरखुरा हाथ और कहाँ श्रीमतीजी की सुकुमार उँगलियाँ! कहाँ गाँव की फूट और कहाँ लखनऊ की ककड़ियाँ! जब वे पहले पत्र न लिखने पर तुली हुई हैं तो मेरा झुकना भी ठीक नहीं।

सम्पूर्ण पुरुष-जाति की नाक रखने के लिए अब मेरा इस निश्चय से चिपका रहना ही ठीक होगा। इन बीवियों का मिजाज बहुत ऊँचा हो गया है। इसका विरोध करना होगा और इसके लिए व्यापक आन्दोलन करना होगा।

यह समस्या हमारे क्लब मे भी उपस्थित की गई। मुझ जैसे निठल्लुओ का क्लब है यह। एक माननीय सदस्य ने मुझसे प्रश्न किया, "श्रीमतीजी को इतनी ज़िद्दी बनाया किसने ?"

एक बार मेरा ध्यान श्रीमतीजी के पिताजी की ओर गया, पर तत्क्षण ही मैंने इस भाव को बुद्धि से उड़ा दिया, क्योंकि वह गरीब तो स्वयं ही श्रीमतीजी की अम्मा से तंग आ गया है।

अतः मैंने उत्तर दिया, "मै नही जानता।"

"आप जानते नहीं ?"—माननीय सदस्य ने फिर पूछा—"क्या इसके पहले भी कभी ऐसी नौबत आई थी ? क्या कभी और भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि दोनों मे से पहले पत्र कौन लिखे ?"

"हाँ," मैंने ठुड्ढी ऊपर उठाकर गला सहलाते हुए कहा।

"तब पहले किसने लिखा था ?"

"जी ?. मैंने।"

"तो सारा दोष आप का है।"

मैं सर्वसम्मति से दोषी ठहराया गया और मुझे यह चेतावनी दी गई कि यदि इस बार पहले लिखा तो क्लब से बहिष्कार कर दिया जायगा।

कहा गया, "बीवियो को सिर पर चढ़ाना सरासर मूर्खता है और यह क्लब मूर्खों के लिए नही है। (हर्ष-ध्वनि) जिस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस विचारो की परतंत्रता के विरोध में सत्याग्रह कर रही है, उसी प्रकार हम इन श्रीमतियो की ग़ुलामी के विरुद्ध लड़ेगे !" (हियर-हियर की ध्वनि।)

और बिल्ली के गले मे घण्टी बॉधने के लिए मुझे चुना गया। जैसी पंचो की इच्छा !

अब हृदय महाशय हिन्दुस्तानी लिबरलो की भॉति कितनी भी उछल-कूद करें, मै भारतसचिव कैप्टेन एमरी की भॉति किंचित मात्र भी ध्यान न दूंगा।

इस नीति का पालन करने मे, अपनी विवाहिता के साथ ऐसी कठोरता बरतने मे, कितनी पीड़ा मुझे होती है, इसका अनुमान या तो कैप्टेन एमरी कर सकते है या सॉड़-रक्षक लार्ड लिनलिथगो।

उधर श्रीमतीजी ने जैसे "कायदे-आज़म" के हठ से सबक ले रखा है कि जब तक कांग्रेस वाले मुस्लिम लीग को मुसलमानो की एकमात्र संस्था नही मान लेते, तब तक दोस्ती का नाम न ले।

लोग ठीक ही कहते हैं कि जब तक पत्नी की मॉ जीवित रहती हैं, तब तक पुरुष को पत्नी का पूरा प्रेम नहीं मिलता, यद्यपि ऐसा कहने वालो की नियत बुरी नही होती और उनका तात्पर्य यह नही होता कि सास के लुढ़काने के लिए लोढ़ा लुढ़काया जाय या उलटी माला जपी जाय।

जीवन के उत्तरार्द्ध मे चाहे श्रीमतीजी के आने के बाद और जाने से पहले पुरुष को दो-कम एक दर्जन संकटो का सामना करना पड़ता हो, क्योकि तब तक बच्चो की संख्या यहाँ तक पहुँच जाती है, परन्तु पूर्वार्द्ध मे दूसरे प्रकार की "दो ही घड़ियाँ" कठिन" होती है—"आपके आने से पहले, आपके जाने के बाद।"

'आने से पहले' और 'जाने के बाद' का समय आने के बाद और जाने के पहले के समय से दीर्घ तब होगा, यदि प्रेम अविवाहित हुआ। किन्तु विवाहित प्रेम मे वे सचमुच "दो ही घड़ियाँ" होती हैं—इनी-गिनी। फिर भी मेरे लिए उनका काटना पहाड़ हो गया।

मेरा ऐसा विचार हो गया है कि यदि लोगो को जेल भेजने के बजाय क़ानून में एक धारा यह भी जोड़ दी जाय कि अमुक अपराध करने पर अभियुक्त की पत्नी को छः मास के लिए मायके मे रहने की आज्ञा दे दी जाय, अमुक अपराध करने पर साल भर के लिए, और इस बीच अभियुक्त क़ानूनन ससुराल न जाने पाये, तो, जहाँ तक नवयुवको का सम्बन्ध है, अपराधो की संख्या मे आशातीत कमी हो जायगी।

मैंने सोचा था कि यदि हृदय महाशय मजदूरो की भाँति गला फाड़कर चिल्ल-पो मचायेंगे, नारे लगायेंगे तो मैं भी दमन करने मे मिलमालिको का रूप धारण कर लूँगा। किन्तु मुसीबत यह हुई कि मजदूर-संघ ने हड़ताल कर दी और मेरी चित्त शान्ति-मिल एकदम बन्द हो गई।

अतएव मैंने जाकर यह बात क्लब के सदस्यों के सामने रखी, जैसे कोई क्रांतिकारी, जो सौंपा हुआ हत्या-कार्य पूरा करने मे असमर्थता प्रकट करने और प्राण-दण्ड प्राप्त करने आया हो। मै साथ मे अपने मित्र बालमुकुन्द को ले गया।

"मुझसे अब पत्र लिखे बिना रहा नही जाता, कारण यह है कि दीवाली निकट आ रही है और मै चाहता हूँ कि दीवाली मे वे यहाँ अवश्य आ जाये," मैंने कहा।

एक सदस्य ने पूछा, "क्या यह निश्चित है कि पत्र पाकर वे आ ही जाये ?"

मै "नही" कहने वाला था कि एक सदस्य बोल उठे, "यदि आपको यह विश्वास हो कि वे दीवाली के पहले न आने के इरादे को छोड़ देगी तो आप भी पहले पत्र न लिखने के इरादे से हट सकते है, क्योकि इससे जहाँ आपकी एक छोटी-सी हार होगी, वहाँ श्रीमतीजी की बड़ी-सी हार होगी, किन्तु ऐसा विश्वास नही हो तो आप उन्हे पत्र लिखने की मूर्खता न करे।"

मै कुछ न बोल सका। अब बालमुकुन्द ने सहायता की, कहा, "लेकिन आप लोग सब पढ़े-लिखे है, क्यो न कुछ सोच-समझकर एक ऐसा पत्र इनसे लिखवा दे, जिसे पाते ही श्रीमतीजी दौड़ती हुई आ जायॅ ?"

मैंने मन ही मन बालमुकुन्द की इस सूझ की सराहना की। क्यो न हो, सिविक गार्ड होने से बुद्धि कुछ तीव्र हो ही जाती है।

इससे क्लब के सदस्यो मे कुछ देर तक बातचीत की भन-भनाहट होती रही।

फिर सभापतिजी ने कहा, "हॉ, यह राय तो अच्छी है, बाबू साहब की श्रीमतीजी को दीवाली के पहले बुला लिया जाय, तब कोई बात भी है तारीफ की!"

एक सदस्य ने कहा, "यदि श्रीमतीजी को तार दे दिया जाय कि तबीयत बहुत खराब है, जल्द आइये, तो कैसा हो?"

"यह ढङ्ग बहुत घिस चुका है, हो सकता है कि वे लोग भॉप ले!" दूसरे ने कहा।

तीसरा, "तो यह लिख दिया जाय कि संन्यास लेने जा रहे है, अब हिमालय की किसी कन्दरा मे शेष जीवन बिताने का विचार कर लिया है?"

मनोरञ्जन क्लब ही तो, एक से एक फक्कड़ पड़े हैं।

किसी ने कहा—"उन्हे संन्यासिनी, बनना न पसन्द आया तो!"

पर एक ने बड़ी उपयुक्त सलाह दी, "अच्छा यह हो कि बाबू साहब अपनी ससुराल को यह लिख भेजें कि फौज में भर्ती होने का विचार है, लड़ाई पर जाना चाहते है। ऐसा पत्र पाते ही वे बाबू को समझाने-बुझाने के लिए भागती हुई आयेंगी।"

यह सलाह सब को पसन्द आई।

और—

मैने पत्र लिखा—

"प्राणेश्वरी,

इस समय देश को वीरो की आवश्यकता है। दिन-दिन युद्ध की लपटें हमारे प्यारे देश के निकट होती जा रही हैं। अब हमारा नीद मे पड़ा रहना उचित नही। ऐसी स्थिति मे मेरा विचार हुआ कि स्वदेश-रक्षा के लिए सेना मे भर्ती होकर पूर्वजो का नाम उज्वल करूँ। इसके लिए मैंने आवेदन-पत्र भी भेज दिया है। अब केवल तुम्हारी सम्मति की आवश्यकता है।

आशा है, तुम पूर्व-कालीन भारत की वीर नारियो के आदर्श को न भूलोगी और सहर्ष रण-क्षेत्र मे जाने की स्वीकृति देकर मेरे उत्साह को दूना करोगी।

आशा है, तुम प्रसन्न होगी। शेष कुशल।

तुम्हारा ही

. . . . . ।"

यह पत्र भेजकर मुझे परम सन्तोष हुआ और अब मै बराबर इस प्रतीक्षा मे रहने लगा कि श्रीमतीजी इस ट्रेन से नही आई तो अगली से अवश्य आ जायँगी।

सोचता हूँ—अब चिट्ठी मिली होगी, अब श्रीमतीजी ने पढ़ा होगा, पढ़ते ही उनके छोटे से सुन्दर मुखड़े पर हवाइयाँ उड़ने लगी होगी, वह और भी छोटा-सा हो गया होगा, इससे मुझे प्रसन्नता होनी चाहिए। देखूँ, अब कैसे कहती है कि दीवाली के पहले न आऊँगी, और हाँ, अब मेरे फ़ौज मे नाम लिखाने की बात घर भर मे फैल गई होगी, अब सब घबड़ा गये होगे, अब श्रीमतीजी ने चलने की तैयारी कर दी होगी, सोचती होगी,

मना लूँगी, जाने न दूँगी ! अब गाड़ी पर बैठ गई होगी, अब आईं, अब आईं...।

सुनसान, अस्तव्यस्त कमरे मे अकेला बैठा हुआ मैं गुन-गुनाता रहता हूँ—"इस वक्त कोई छम्म से आ जाय तो क्या हो !"

किन्तु, मेरी सोची हुई प्रत्येक ट्रेन मिस होती गई।

और श्रीमतीजी के बजाय श्रीमतीजी का एक पत्र शाम की डाक से आया।

वह यों है—

"प्राणनाथ,

आपका पत्र मिला। उसे मैंने 'सूबेदार चाचाजी को दे दिया, क्योंकि वे पिछले महायुद्ध मे विदेश गये थे और अब लम्बी पेन्शन पा रहे हैं। आपका पत्र पाकर वे हर्ष से नाचने लगे, कहते हैं—हमारे वंश की नाक इसने रख ली। चाचाजी को लेफ्टिनेण्ट साहब बहुत मानते है। इसलिए चाचाजी का ख़्याल है कि अपने एक सम्बन्धी को युद्ध मे भेजने का समाचार देकर वे साहब को कृतज्ञता-पाश मे और भी बाँध लेगे। दूसरे, वे नहीं चाहते कि उनके दामाद को कोई साधारण श्रेणी मिले। वे साहब से सिफ़ारिश कर देगे तो शायद आपको फ़ौज मे अच्छा पद मिल जायगा। इसलिए आगामी सोमवार को चाचाजी लेफ्टिनेण्ट साहब से मिलने के लिए दिल्ली जायेंगे।

यहाँ सब ठीक है, आपकी कुशलता ईश्वर से सदैव मनाया करती हूँ।

आपकी दासी—
.... ।"

इसे पढ़कर मेरे देवता कूच कर गये। अगला सोमवार तो परसों के बाद ही है। कहाँ तो मैंने रोज़ा माफ कराने के लिए पत्र लिखा था, कहाँ नमाज़ गले मढ़ी जाने को है। तीन रोज़ मे "चाचाजी" दिल्ली को रवाना हो जायँगे, तब कुशल नहीं। सोमवार के पहले पहुँचकर अपने पत्र की असत्यता को स्वीकार कर लेना चाहिये, जिससे सारा मामला शान्त हो जाय, आगे न बढ़े। नहीं तो कहीं का न रह जाऊँगा।

मैं सिर पर पैर रखकर स्टेशन को भागा, क्लब वालों को सूचना तक न दी, भाड़ मे जाय क्लब और उसकी सदस्यता! जान है तो जहान है, नही तो कुछ नही।

बड़े भाग्य से ट्रेन मिल गई। नहीं तो क्या गाड़ी यह थोड़े ही सुनती है कि पत्र तब मिला, जब केवल १५ मिनट रह गये थे, इतने मे ही तैयारी करनी थी, इसलिए ज़रा देर हो गई।

हाँफते-हाँफते मैं ससुराल पहुँचा।

श्रीमतीजी ने मुस्कुराते हुए पूछा, "आखिर तुम आ गये?"

"हाँ," मैंने दबी जीभ से कहा।

"और दीवाली से पहले आ गये?"

"हाँ, बात यह थी कि ।"

उन्होने मेरी बात काटकर कहा, "मै समझ गई।"

"क्या ?"

"कुछ नहीं। पर अब तो कम से कम दीवाली भर यहीं रहो, फिर चाहे जहाँ जाना।"

"हाँ, पर, बात यह है कि मैं वास्तव में लड़ाई पर नहीं जा रहा हूँ, सब झूठ था।"

"मैं सब समझती थी।"

"कैसे ?"

"वैसे ही!"

"इसका क्या मतलब ? क्या तुमने चाचाजी के दिल्ली जाने के सम्बन्ध में जो लिखा था, वह झूठ था ?"

श्रीमतीजी के ओठों पर वही मुसकान बनी रही। मैं जल उठा।

अब मैं उलटे पैरों लौटने लगा; श्रीमती ने हाथ पकड़ लिया, कहा, "ठहरो, दीवाली बाद मुझे भी साथ लेते चलना।"

देखा आपने, ये औरतें बाबा आदम के समय से अपने हठ की कितनी पक्की होती आई हैं ? आप डाल-डाल चलिए तो ये पात-पात चलेंगी !

सवा रूपये के लड्डू

हम अकेले बैठे एक विरह-गीत की रचना के प्रयत्न में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे। इतने में भीतर से धीमी-सी आवाज़ आई—"प्रेम करने से कभी-कभी यह भी होता है।"

हमने बोली से जान लिया कि यह हमारी श्रीमती की छोटी बहिन है, जो इतने ज़ोर से सोच रही है।

हमारे कान खड़े हो गये—उस भले जीव के कान की भाँति जो सामने देखता है कि आज मालिक नित्य से दूने कपड़ों का गट्ठर बाँध रहे हैं।

सवाल उठा कि मेंढकी को ज़ुकाम कैसे हो गया।

अभी हम इस पर विचार कर ही रहे थे कि साक्षात् श्रीमतीजी आकर बोलीं, "ज़रा हमें बतलाओ कि प्रेम करने से कभी-कभी क्या होता है?"

हमने चटपट उस काग़ज़ को उलटकर छिपा दिया, जिस पर विरह-गान की कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं। तब कहा, "हम क्या जानें!"

"बनो नहीं," श्रीमती ने कहा, "सीधे से बतला दो।"

"क्या बतला दें?" हमने अपनी दाढ़ी में तिनके की गुञ्जाइश देखकर कहा, "तुम व्यर्थ हम पर सन्देह करती हो। हम जो यह विरह-गीत लिख रहे थे, उसका यह मतलब नहीं है कि सचमुच किसी से प्रेम करते हैं। यह कल्पना-मात्र है।"

"मैं पूछती हूँ ज़मीन की, तुम बतलाते हो आसमान की!" श्रीमती हँसकर बोलीं, "हम दोनों एक वर्ग-पहेली की पूर्त्ति कर रही हैं। एक शब्द के दो अक्षर दिये हुए हैं, 'वि वा—'। तीसरा मालूम करना है। तालिका में यह छपा है कि प्रेम करने से कभी-कभी यह भी होता है।' अब बतलाओ"

सन्तोष की साँस ली हमने। कहा, "प्रेम करने से क्या होता है? वि वा—? 'विवाद' होता है, ठीक।"

"क्यों?" वे बोलीं, "क्या प्रेम करने से विवाह नहीं होता?"

"होता क्यों नहीं, पर साधारणतया यह बात प्रचलित नहीं मानी जायगी। क्या तुम्हारा-हमारा 'विवाह' प्रेम करने से हुआ था?"

"तुम बड़े वैसे हो!" श्रीमतीजी ने कहा। फिर तुरन्त ही वे सँभल गईं और बोलीं, "परन्तु इससे क्या? तालिका में 'कभी-कभी' से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह बात सदा नहीं होती।"

श्रीमती शब्द-पहेली के रचयिता विद्वानों के दाव-पेच से परिचित थीं।

"यह ठीक है, पर 'कभी-कभी' का मतलब यह भी नहीं कि ऐसा बहुत कम बार होता है। और, प्रेम-विवाह इतनी प्रचुरता से नहीं होते कि 'कभी-कभी' कहा जा सके। इसके विपरीत प्रेम करने से विवाद कभी-कभी अवश्य होता है; इस में सन्देह नहीं। जैसे तुममे-हममे ।"

"हटो भी!"---श्रीमती ने पुनः रोष प्रकट किया।

"फिर," हमने कहा, "तालिका मे अव्यय 'भी' दिया गया है, जिस पर ज़ोर देने से मालूम होता है कि पूर्त्ति-शब्द और प्रेम मे कुछ-न-कुछ विरोधाभास होना चाहिए। इससे भी 'विवाद' की पुष्टि होती है।"

"यह कोई दलील नहीं। ऐसा भी तो कहा जा सकता है कि प्रेम और विवाह एक ही वस्तु नहीं हैं, इसलिए 'भी' का प्रयोग हुआ।"

"दोनो एक वस्तु नही है, यह ठीक है, परन्तु दोनो लगभग एक ही प्रकार की वस्तुएँ है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।"

"यही सही। लेकिन तुम जो यह कहते हो कि प्रेम-विवाह उतनी प्रचुरता से नहीं होते, वह इस देश के सम्बन्ध मे भले ही ठीक माना जाय, पर यूरोप के देशो के सम्बन्ध मे कैसे लागू होगा ?"

"न हो। वर्ग-पहेली हिन्दुस्तानी मे है, उसमे हिन्दुस्तान की बात का विचार होना चाहिए। ऐसा न भी सोचें तो भी

'विवाद' ही सही होना चाहिए; क्योंकि यूरोप के देशों में अधिकतर प्रेम-विवाह होते हैं, केवल 'कभी-कभी' नहीं होते। और, प्रेम में विवाद कभी-कभी सब जगह होते हैं।"

"भगवान जानें क्या ठीक है!"—कहकर श्रीमतीजी अन्दर चली गईं।

हम फिर अपने विरह-गीत के साथ माथा-पच्ची करने लगे।

श्रीमती को गये अधिक देर नहीं हुई कि श्रीमती की बहिन आई और बोली, "जीजाजी, दूल्हे को ससुराल की क्या अच्छी लगती है?"

"ऐ?" हमने कहा। सूक्ष्म-भाव की एक मोटी मछली हमारी कँटिया में फँसने वाली ही थी, मगर अफसोस!...

साली बोली, "पहला कोष्ठ रिक्त है, उसमें केवल 'अ' की मात्रा दी है। दूसरे कोष्ठ में 'ली' है। अब बतलाइये।"

"आली, ताली, डाली, बाली, साली—हाँ, ठीक है; ससुराल की साली अच्छी लगती है—साली।"

"जाइए आप तो हँसी करते हैं।"

"इसमें हँसी की क्या बात है? ससुराल की साली नहीं अच्छी लगती तो और क्या अच्छी लगती है?"

"गाली," उसने तुरन्त कहा। "क्या गाली नहीं अच्छी लगती?"

"यह अपनी-अपनी पसन्द की बात है। तुम जो भी ठीक समझो...।"

"मजाक फिर कीजियेगा। ठीक से सोचकर बतलाइए।"

"बतलाया तो। गाली केवल विवाह के अवसर पर अच्छी लगती है, सो भी प्रथा की मजबूरी के कारण। और, साली सदा अच्छी लगती है।"

अभी साली की बात का पूर्ण निर्णय नहीं हो पाया था कि श्रीमतीजी एक नया प्रश्न लेकर आ गईं--"(९) बायें से दायें। वियोग की अति के कारण प्रेमिका ऐसी हो जाती है। कैसी ? पगली या पतली ?"

"हम समझते हैं, कुछ प्रेमिकाओं को वियोग डनलप का जीवित विज्ञापन बना देता है। इसलिए हमारी राय में 'पतली' की अपेक्षा 'पगली' को अधिक उपयुक्त मानना चाहिए।"

दोनों चली गईं। अपने राम फिर विरह-कल्पना में डूब गये। विचार था कि किसी प्रकार गीत पूर्ण हो जाता तो सम्पादक से दस-पाँच रुपये पाने का डौल लग जाता। मगर

"(१३) बायें से दायें। बहुतों का विश्वास है कि इसके बल से बड़े-बड़े काम सच्चे हो जाते हैं। नु मा न। मैं सोचती हूँ यहाँ 'हनुमान' होना चाहिए। हनुमानजी के बल से सब कुछ हो जाता है। क्यों जी ?"—श्रीमतीजी ने पधारकर पूछा।

"किन्तु 'अनुमान' के बल से भी बड़े-बड़े काम सच्चे हो जाते हैं। सच्चे होने की बात से अनुमान की पुष्टि होती है। अनुमान के साथ होने से सच्चा होना खप जाता है, नहीं तो कामों का सच्चा होना कोई अर्थ नहीं रखता।"

"बहुतों का विश्वास है—'विश्वास' से किधर सङ्केत किया गया है, यह भी सोचा है ?"

"तुम जानो !"—हमने टालने के लिए कहा और उधर से ध्यान हटाकर अपने काम मे लगा दिया। उसमे कितना विघ्न पड़ रहा था।

"मैं 'हनुमान' को ठीक मानती हूँ," श्रीमती ने जाते-जाते कहा, "और यह भी कहे देती हूँ कि इस प्रतियोगिता मे पुरस्कार मिलेगा तो हनुमान स्वामी को सवा रूपये के लड्डू चढ़ाऊँगी।"

शीघ्र ही वे लौट आईं और बोली, "पुरुषो मे यह स्त्रियो से अधिक पाया जाता है'। यह क्या है ? कल, फल, दल, छल ? मेरा ख़्याल है कि छल अधिक पाया जाता है।"

हमें यह बुरा लगा।

"नही, पुरुषो मे स्त्रियो से अधिक 'वल' पाया जाता है—छल नही !"—हमने आवेश-पूर्वक कहा। झुँझलाये हुए हम थे ही।

"क्यो नही ! इतिहास की कहानियो से सिद्ध है कि पुरुषो ने स्त्रियो को छल से ठगा है !"—श्रीमतीजी भी ताव मे कर बोली।

"जहाँ यह बात कही जा सकती है, वही यह भी कह सकते हैं कि इतिहास अनेक स्त्रियो के छल-कपट के दृष्टान्तो से रहित नहीं है। परन्तु, इस विषय मे दो रायें नही हो सकती कि पुरुष वल मे स्त्री से बढ़कर होता है।"

"अरे ! यह गरमागरम बातें कैसे होने लगी ?" —साली ने आकर बीच-वचाव किया और कहा, "मुझे वतलाइए, तालिका मे है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री के मन मे अपने इसका ध्यान अधिक होता है; यहाँ 'देश' होना चाहिए या 'केश' ?"

"केश !" हम उसी धुन मे कहते गये, "स्त्रियो को जितना अपने केश का ध्यान होता है, उतना देश का नही, उन्हे कड़ी-तेल से छुट्टी नहीं कि चर्खे को हाथ लगाये !"

"ओफ् ओह !"--श्रीमतीजी ने कहा--"आप वहुत बढ़ते जा रहे हैं।"

"बढ़ते जाना मर्द का काम है," मैं बोला, "सत्य अप्रिय लगता है। देश का ध्यान पुरुष को अधिक होना स्वाभाविक है। अधिक नही तो उसे स्त्रियो से कम कभी नहीं होता। देश के सम्बन्ध मे दोनो का ध्यान बराबर हो सकता है। परन्तु जहाँ तक केश का सम्बन्ध है, पुरुष को उसका ध्यान नही के बराबर होता है, और स्त्रियो को दिन-रात अपने केश का ही ध्यान बना रहता है।"

श्रीमती की भौहो मे कई बल पड़ गये। हमने समझ लिया कि पहेली तो पहेली ही रह जायगी, यहाँ एक गृह-युद्ध छिड़ जायगा, बेमतलब ! ठीक है, प्रेम करने से कभी-कभी विवाद होता है। प्रत्यक्ष के लिए क्या प्रमाण !

साली ने पूछा, "अच्छा, अब बतलाइए। '(१८) बाये से दायें—पत्नी का यह अत्यधिक क्या है, जो पति को बहुधा खल जाता है ?' अलङ्कार या अहङ्कार ?"

"दोनो ही," हमने उतनी ही तीव्रता से कहा। हम जले बैठे थे। कुछ इसलिए कि इन स्त्रियो के कारण हमारे चिंतन मे बाधा पड़ती थी, कुछ इसलिए कि श्रीमतीजी अपनी बिरादरी को हम पुरुषो से श्रेष्ठ मानती थी।

श्रीमती की भौंहे और भी नीचे झुक आई । उनका स्वभाव था कि जब उन्हें क्रोध आ जाता था तो उनके बातूनी गुण की चाँदी जो थी, वह मौन के सोने मे बदल जाती थी ।

साली ने फिर पूछा, "और यह भी बतलाइए कि विवाह अनेक नवयुवको के हृदय का 'हार' हो जाता है अथवा हृदय का 'भार' ?"

"हमारी सम्मति व्यक्तिगत रूप से 'हार' के पक्ष में है !"—हमने कहा । सोचा, विवाह को भार कहेगे तो अब बात बिगड़ जायगी और श्रीमती से सचमुच मे झगड़ा हो जायगा । फिर कहा, "यद्यपि और लोग, बहुत से, इसके विपरीत मत देगे । इस दृष्टि से हमारा अपना भाग्य औरो से अच्छा था ।"

हमने कनखियो से देखा कि अब श्रीमती की भौंहो की खीच-तान मे कुछ कमी हो गई और मुख पर सहज सरलता के चिह्न स्पष्ट हो गये ।

साली ने फिर प्रश्न किया, "(२७) बाये से दाये । बात की बात मे काटना इसकी तेजी है । रिक्त कोष्ठ मे 'आ' की मात्रा दी हुई है और दूसरा अक्षर 'री' है । इसकी भी पूर्ति कीजिए ।"

"आरी,"—हमने कहा, यद्यपि कह सकते थे कि बात की बात मे काटना 'नारी' की तेजी है । पर कटुता बढ़ाना वाञ्छनीय न था । बात सँभालनी थी न ।

तब साली ने पूछा, "(१) ऊपर से नीचे—स्त्री का प्राण-प्रिय । यह क्या होगा ? बाल—बालक या बालम ?"

"यह इनसे पूछो," हमने श्रीमती की ओर सङ्केत किया।

श्रीमती मुस्कराकर बोली "वालम !" और अन्दर चली गईं।

चलिए, झगड़ा मिटा। रूठ जाती तो मुफ़्त मे मुसीबत हो जाती।

उनके पीछे साली भी चली गई।

हमने सोचा, वड़ा हर्ज हुआ। इतनी देर मे कई पंक्तियाँ सूझ गई होती। औरतो की बात मे पड़कर हमारी कितनी हानि हो गई।

अब हम दूने मनोयोग से विरह-गीत के लिए तुक जोडने लगे। पर भली स्त्रियो के मारे जोड़ने मिलता तब न।

साली फिर आ धमकी। बोली, "एक शब्द और ·"

"हमे छुट्टी नही !" हमने झिड़की दी।

"बस, एक शब्द,"—साली सरलता से पिण्ड छोड़ने वाली न थी--"तालिका मे कहा गया है, 'ख़्याल है कि इसे धारण करने से नारी वीरता की मूर्त्ति जान पड़ेगी !' एक कोष्ठ रिक्त है, उसके बाद तीन अक्षर दिये हुए हैं—ल, वा और र। क्या तलवार ठीक है ?"

हमने साली के हाथ से पहेली का पृष्ठ लेकर देखा और कहा, 'तलवार धारण करने से नारी वीरता की मूर्त्ति जान पड़ेगी, इसमे सन्देह नहीं, किन्तु शुरू मे 'ख़्याल है कि' कहा गया है और अन्त मे भावावेश का चिह्न (!) दिया हुआ है, इससे जान पड़ता है कि 'तलवार' से उत्तम 'सलवार' को माना

जायगा। इधर किसी नेत्री ने भारतीय महिलाओ को सलवार धारण करने की सलाह भी दी है।"

साली मान गई।

"अब हमारे पास मत आना!"—पहेली उसके हाथ मे रखकर हमने कह दिया।

"अच्छा, एक उत्तर और बतला दीजिए, तब न आऊँगी।"

"पूछो!"

साली ने पहेली-पृष्ठ को विरह-गीत के ऊपर रख दिया और अपनी पतली-सी अँगुली द्वारा ऊपर से नीचे के 'क्लू नम्बर २०' की ओर सङ्केत किया।

हम क्षण भर उसके रङ्गीन लाल नख को ही देखते रह गये। साली ने अँगुली हटा ली और कहा, "बतलाइए!"

"हाँ-हाँ!"—हम मन-ही-मन लज्जित-से होकर बोले, "वर्ग-निर्माता कहता है कि 'बिना इसके घरनी किस काम की?' बाप रे बाप! हम इसका उत्तर नही बतला सकते।"

"क्यों?"

"पूछती हो क्यों? बड़ी कठिनाई से, प्रेम मे जो होता है, वह विवाद होते-होते बचा। अब फिर तुम मियाँ-बीवी मे लड़ाई करवाना चाहती हो। यदि हम कहते है कि बिना 'रूप' के घरनी किस काम की, तो ग़लत कहते हैं, और यदि कहते है कि बिना 'सूप' के घरनी किस काम की, तो झगड़ा मोल लेते है, क्योंकि तुम्हारी दीदी के पास रूप है, और सूप नही। ऐसी दशा मे हमारा चुप रहना ही श्रेयस्कर होगा!"

"अच्छा-अच्छा ! आप न कहिए, मैं जान गई !'—कह कर साली हँसती हुई अन्दर हो रही।

हमने पुनः चित्त एकाग्र करके गीत को पूर्ण करने की चेष्टा की। लेकिन साली से छुट्टी मिली तो श्रीमतीजी वर्ग-पहेली लेकर फिर सिर पर सवार हो गईं।

हमने कहा, "देखो, बहुत तङ्ग न करो। किसी प्रकार गीत बन जाने दो। इसके पारिश्रमिक के पैसों से कितना काम चलेगा!"

श्रीमती ने सुन्दर-सी नाक सिकोड़कर कहा—"बहुत मिलेगा तो तुम्हे दस रुपया मिलेगा। मगर, हमारी पूर्त्ति कही बिलकुल सही हुई तो दस हज़ार रुपये इकट्ठे प्राप्त होगे।"

मैं क्या कहता ? पत्नी के आगे कब किसी की दलील चलती है ?

वे बोली, "इस कोष्ठ मे चन्द्र-बिन्दु और ऊ की मात्रा है, दूसरा अक्षर है—छ। 'आधुनिकता के रङ्ग मे रँगी हुई स्त्रियों मे ऐसी कम होगी जो चाहेगी कि पति के यह निकले।' मेरी समझ मे 'पूँछ' ठीक है न ?"

"यह कैसे हो सकता है ? एक तुम्हे छोड़कर कौन स्त्री ऐसी होगी जो चाहेगी कि पति के पूँछ निकले ? 'आधुनिकता के रङ्ग मे रँगी हुई' वाक्यांश से यह स्पष्ट है कि सङ्केत 'मूँछ' की ओर है, न कि 'पूँछ' की ओर।"

किस्सा यह है कि वर्ग-पहेली के चक्कर मे हमारी कविता ज्यों-की-त्यो पड़ी रह गई, और दोनो बहिनो ने हमे इसी

प्रकार मजबूर करके अपना काम निकाला। हनुमान स्वामी को सवा रुपये का प्रसाद चढ़ाने की मनौती मानी गई। तीन रुपये के पोस्टल आॅर्डर के साथ छः पूर्त्तियाँ प्रेषित की गई, तब छुट्टी मिली। हम अपना-सा मुँह और अधूरा गीत लेकर टापते ही रह गये।

बीवी का होना यों ही आदमी के लिए कोई ऐसी-वैसी बात नहीं, फिर यदि बीवी साहबा पढ़ी-लिखी हुईं तो और भी मुसीबत—एक तो करेला, दूसरे नीम-चढ़ा! और कही श्रीमतीजी, साथ ही, वर्ग-पहेली की प्रेमिका ठहरी तो भगवान ही रक्षा करे!!

यह सब तो हुआ, पर जब पहेली की मुहरबन्द पूर्त्ति प्रकाशित हुई तब सबकी आँख खुली। वर्ग-निर्माता सबका चचा निकला। पट्ठे ने ऐसा दिमागी पैंतरा दिखलाया कि पूर्त्तिकार चारो खाने चित्त हो गये होगे। निर्माता की सोचने की शैली एकदम भिन्न थी।

पहेली मे एक शब्द था—'म—ा न।' तालिका मे छपा था ऊँचा। लोगो ने लिखा—म हा न! निर्माता ने सही माना—मचान!

एक शब्द और मजे का निकला। छपा था—'कुछ महिलाएँ पाये तो इसे चूल्हे मे लगा दे!' पूर्त्तिकारो ने समझा—'चैला।' निर्माता ने पसन्द किया—'छैला!'

इसी प्रकार था कि—'यह प्रेमी को अच्छी लगती है।' साली ने सोचा, 'गली', श्रीमती ने सोचा—'डली', और हमने सोचा

'लली' या 'कली', किन्तु निर्माता ने चुपचाप सीधा-सा शब्द 'भली' रख दिया !

और--'प्रेमिका के मन में एक प्यारा-प्यारा-सा होता है' के उत्तर में लोगों ने 'दर्द' लिखा तो निर्माता ने 'मद' ठीक समझा !

वर्ग-निर्माता कितना भी चण्ट था तो क्या ! श्रीमतीजी ने जो सवा रुपये का प्रसाद चढ़ाने की मनौती मानी थी, वह निष्फल नहीं हुई। फल निकला तो मालूम हुआ कि श्रीमती के हिस्से में एक रुपये चार आने का पुरस्कार पड़ा। उनसे चार ग़लतियाँ हुई थीं।

हमने कहा, "शाबाश !"

"हाँ, और क्या," श्रीमतीजी बोलीं, "निर्माता ने कितनी भी धूर्त्तता की, किन्तु हनुमानजी से एक भी न चली !"

"हाँ"--हमने सोचा, देवता ने अपने प्रसाद भर का प्रबन्ध करके छोड़ा !

इस समय यह पूछना खतरे से ख़ाली न था कि प्रवेश-फीस के तीन रुपयों का हिसाब क्या हुआ और कविता का पारिश्रमिक जो गोल हो गया उसकी पूर्त्ति कैसे होगी।

हमें खेद इस बात का था कि हमारी साली को कोई पुरस्कार नहीं मिला।

देर हो गई

सड़क पर चलने वालों के बिगड़ने-बड़बड़ाने की परवाह करने का अवकाश यहाँ किसे था ? बत्ती के अभाव की पूर्ति घंटी से करता हुआ, मैं पैरगाड़ी को—हैण्डिल पर झुककर—बेतहाशा दौड़ा रहा था। स्टेशन से घर तक की राह कैसे तै हुई, यह मैं न जान सका। काँटा चुभने की पीड़ा उस बेचारे को क्या जान पड़ेगी, जो फाँसी पाने जा रहा हो ? कुछ यूँ ही सा कारण था कि जाड़े की रात, वह बर्फीली हवा, और सवारी सायकिल की—यह सब होते हुए भी मैं पसीने से तर था।

बड़े-बड़े विचारक कहते है—मानव महान् है, वह क्या नहीं कर सकता ? उनसे मेरा एक छोटा-सा सवाल है—क्या वह उस समय गरदन सीधी करके खड़ा रह सकता है, जब रात मे जरा देर करके मानवी के सामने पहुँचता है ?

इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि उस रात को देर तक बाहर रह जाने के कारण मैं अब मन-ही-मन पछता रहा था। मै उसके परिणाम को अच्छी तरह जानता था, और उसे झेलने के लिए तैयार होकर ही मै दफ्तर से सीधा स्टेशन चला गया था। घर होकर जाना चाहता तो कितनी कठिनाई होती, यह—यदि आप विवाहित है, तो—जानते ही है।

दफ्तर के काम मे किसी तरह जी नही लग रहा था। कानो मे संगीत-सम्मेलन के वाद्य-यंत्र और हृदय मे किसी के पैर के घुँघरू बज रहे थे। सामने समस्या यह थी कि किस उपाय से नृत्य देखने को मिल सकेगा।

यह बात न थी कि टिकट लेने के लिए जेब गवाही नही देती थी। मुफ्ती पास झटकने का कोई प्रश्न न था। यदि था तो बस यह प्रश्न था कि नाच की रात मे घर पर जो लम्बी अनुपस्थिति होगी, उसके लिए घर की मालकिन को किस प्रकार मनाया जायगा। यही सबसे अधिक टेढ़ी खीर थी।

साथियो से राय लेने की इच्छा प्रकट की तो पता लगा कि उनमे से अधिकांश इसी उलझन मे हैं। म्याऊँ के ठौर का समाधान किसी के पास न था।

किन्तु, मैं इतनी सरलता से मिस बुलबुल का डान्स देखने का लोभ संवरण करने वाला न था।

मिस बुलबुल बाला नगर के एक प्रमुख पदाधिकारी की सुपुत्री और विश्वविद्यालय की एक विशिष्ट छात्रा थी। उन्हें बहुधा 'नाचनेवाली बुलबुल' कहा जाता था। उनका नाम शहर के हर युवक की ज़बान पर था, पर उनकी नृत्य-कला देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सकना पूर्वजन्म के किसी बहुत बड़े पुण्य के प्रताप से ही हो सकता था। इस बार अ० भा० संगीत-सम्मेलन मे मिस बुलबुल का प्रोग्राम था, और यही सम्मेलन का सबसे बड़ा आकर्षण था। ऐसा स्वर्णिम अवसर फिर आने वाला न था। सम्मेलन के अन्तिम दिन की रात वाली बैठक के लिए टिकट कंट्रोल के ऊनी कपड़े की तरह बिक रहे थे।

सोचते-सोचते अन्त मे मुझे एक तरकीब सूझ ही गई। सच्ची लगन हो तो राह निकल ही आती है। मज़े की बात यह थी कि केवल एक रुपये के खर्च मे उतना बड़ा काम बन जाता था। कितनी विलक्षण और अभूतपूर्व थी मेरी योजना!

लखनऊ जाने वाली गाड़ी के यात्रियो मे से एक ऐसा व्यक्ति खोज निकालना था, जिस पर मैं भरोसा कर सकता। उसी पर मेरी सारी सफलता निर्भर करती थी। यूँ नित्यप्रति एक न एक मित्र लखनऊ के लिए ठाट से बोरिया-बिस्तर बाँधे तैयार मिलता था, पर उस दिन अमीनाबाद का आकर्षण अपर्याप्त सिद्ध हुआ। बड़ी कठिनाई से एक सज्जन दिखलाई पड़े, जिनसे

केवल साधारण-सी जान-पहचान थी। रेगिस्तान मे खजूर ही सर्वोत्तम मेवा! किसी प्रकार अपना काम निकालना था।

घनिष्ठता-सूचक दीर्घ नमस्कार करके मैंने उनसे कुशल-समाचार पूछा और धड़कते हुए दिल पर हाथ रखकर प्रश्न किया, "आप लखनऊ ही तशरीफ़ ले जा रहे है न?"

"हॉ," कहकर उन्होने मुझे जिला लिया। पूछा, "क्यो? मेरे योग्य कोई सेवा है क्या?"

एक रुपया और तार का फ़ार्म उनके कर-कमलो मे रखकर मैंने अत्यन्त नम्रता-पूर्वक निवेदन किया, "मेरे लिए आप इतना कष्ट उठा सकें तो बड़ी कृपा होगी। यह तार वहॉ किसी तारघर मे दे देना है।"

उन्होने तार के फार्म पर एक उड़ती हुई दृष्टि डाली और सहसा आश्चर्यान्वित होकर कहा, "ऐ! इसे तो यही के पते पर आना है।"

"हॉ," मैंने स्वीकार किया।

"यह कैसी उलटी बात है?"—वे चक्कर मे पड़ गये। "लखनऊ मे कोई बीमार है, उसकी सूचना तार से इलाहाबाद आने को है और यही से भेजी जा रही है।"

उन्होने मुझे कुछ इस प्रकार देखा, जैसे वे इस बात की जॉच करने की कोशिश कर रहे थे कि मै नशे मे तो नही था। अच्छे नासमझ से पाला पड़ा था।

मैंने समझाया, "बीमारी की चिट्ठी आ चुकी है, पर दफ्तर का साहब बड़ा सख्त है, बिना तार देखे छुट्टी न देगा।"

न कहिएगा, कैसी पट्टी पढ़ाई !

"ओह ! समझा," उन्होंने कहा ।

फिर, उनकी 'नहीं-नहीं' पर कान न देकर मैंने उन्हें चाय सिगरेट पिलाकर छोड़ा ।

जाते-जाते याद दिला दिया, "कल सवेरे कृपया इसे जल्दी से जल्दी निपटा दीजिएगा । भूलिएगा नहीं । धन्यवाद ।"

भरसक शीघ्र घर लौटने की कोई कोशिश मैंने उठा नहीं रखी । किन्तु, गाड़ी का यह समय ही ऐसा था कि दस बजने के बाद ही वापसी हो सकती थी । देर अवश्य हो गई थी, और इसके लिए इस अकिञ्चन को श्रीमतीजी की कुछ चुनी हुई बातें सुननी पड़ेंगी, यह भी तय था । किन्तु, इसके लिए जो डाट-फटकार पड़ने को थी वह निश्चय ही उस डाट-फटकार से कम ठहरने वाली थी, जो अगले दिन संगीत-सम्मेलन में दो-ढाई बजे तक रात बिताकर लौटने पर पड़ती । हलकी बला को पसन्द करके मैंने भारी बला से बचने का ठिकाना कर लिया ।

इस प्रकार रास्ते भर मेरे मन में श्रीमती के आतंक के साथ मिस बुलबुल के नृत्य-दर्शन की लालसा आँख-मिचौनी खेलती रही ।

अपने दरवाज़े पर कुत्ते के भी शेर हो जाने की जो बात कही जाती है, वह दरवाज़े के बाहर की है । अन्दर तो शेर भी कुत्ता हो जाया करता है !

जो भी हो, मैंने साहस-पूर्वक पैर अन्दर रक्खा ।

श्रीमतीजी इस प्रतीक्षा मे थी ही, बोली, "क्या आज से दफ्तर बन्द होने का समय बदल गया ?"

मैंने कहा, "नहीं तो……"

उन्होंने मुझे बोलने न दिया; कहा, "शायद बड़े बाबू ने युद्धोद्योग के अतिरिक्त कार्यों के सिलसिले मे रोक लिया हो !"

यह बहाना मैं कैसे स्वीकार करता ?

"ओ, मैं भूल गई थी ! खजांची बाबू की लड़की का ब्याह आज ही था क्या ?"

मै क्या कहता ? श्रीमतीजी एक योग्य वकील की कन्या-रत्न ठहरीं।

"तो फिर बड़े साहब का कुत्ता खो गया होगा। बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी होगी तुम्हे, इसी से परेशान लगते हो। मिल गया फिर ?"

मै बराबर सिर खुजलाता रहा।

"अच्छा, अब समझी। किसी भले दोस्त ने दावत दे दी थी। ठीक !"

मुझे मुँह खोलने का अवसर न मिला। वे कहती गईं, "बहुत अच्छा किया, तुम्हे उपवास नहीं करना पड़ा। मैं जानती थी, तभी, देर होते देखकर रसोई उठा दी थी।"

मेरे दो-तल्ले धड़ के नीचे वाले हिस्से मे खलबली मच गई। संसार के किसी भी देश की स्त्रियो के किसी भी शासन-विधान ग्रन्थ में छोटे-मोटे अपराधो के लिए इतने कठोर दण्ड की

व्यवस्था न होगी। मेरे साथ सरासर अन्याय किया गया। परन्तु, यदि इसमें अदालत की मानहानि का डर न हो (क्योंकि मैं बीवी के बाद अदालत से ही सबसे अधिक घबराता हूँ!) तो मैं कहूँगा कि इसकी सुनवाई के लिए—खेद की बात है—कोई ऊँची अदालत नहीं। मैं न जानता था कि श्रीमती की दृष्टि में मामला इतना संगीन हो जायगा।

तब मैंने सफ़ाई देनी चाही, "दफ्तर से थोड़ी दूर तक मैं आ पाया था कि···"

"एक चीता मिल गया! क्यों?" वे खीझकर बोलीं।

मैंने यह नहीं कहा कि वह तो घर पहुँचने पर मिलने को था।

"नहीं," मैं बोला। "बाइसिकिल का पिछला पहिया जो है—बीच राह में ···"

"रहने दो, मुझे पता है। किसी दिन डेयरी वाले को दूध पहुँचाने में जो देरी हो जाती है, वह भी पंक्चर के कारण ही होती है।"

अब मुझे क्या कहना चाहिए था?

श्रीमती की अटकल की आदत को ग़लत साबित करने के लिए कोई भिन्न बात बतानी थी। जल्दी में मैं कह गया, "पर, मेरी सायकिल में पंक्चर-वंचर नहीं हुआ था। ट्यूब बर्स्ट हो गया था।"

और, यहीं मैं चूक गया। अभी दो सप्ताह भी नहीं हो पाये थे, मैंने टायरट्यूब के लिए रुपये लिये थे।

"सच बात यह है," मैने 'हे-हे' करके ज़रा प्यार जताते हुए कहा, "तुम ग़ुस्सा न करो तो बतला दूँ। मै एक साथी के यहाँ बैठकर ज़रा ताश खेलने लगा था।" फिर कुछ ठहरकर वातावरण मे कुछ और मिठास और चिकनाहट लाने के लिए निवेदन किया, "फिर, अभी कोई वैसी देर भी नही हुई है..."

"क्या?" श्रीमतीजी ने चमककर प्रश्न किया—उनका क्रोध शान्त होते-होते एक बार फिर भड़क उठा, "साढ़े दस बज गये और श्रीमान कहते हैं, देर नही हुई?"

वास्तव में मैं यह कहना चाहता था कि पहले वाले साढ़े नौ ही तो बजे हैं।

समय को बढ़ाकर सरकार ने और नही तो इतना तो अवश्य किया कि निरीह पतियो की नज़रबन्दी की अवधि साठ मिनट अधिक कर दी।

उस दिन मेरी जो भी फ़जीहत हुई वह उतनी नही खली, जितनी साधारणतया खलनी चाहिए थी। सन्तोष का विषय यह था कि श्रीमती की वाक्पटुता से अपनी प्रतिष्ठा की जो हानि हुई, वह किसी परिमाण मे कल होने वाले उस लाभ की मिठास से अपेक्षाकृत अधिक कड़ुवी नही थी, जिसका आयोजन करने के लिए मै स्टेशन गया था।

प्रसन्नता की अधिकता के कारण रात मे बड़ी देर तक जागता रहा। नीद आई तो एक मीठा सपना दिखलाई पड़ा—मेरे आगे एक जगमगाता हुआ रङ्ग-मंच है, उस पर हैं विश्व-

मोहिनी मिस बुलबुल मन के चमन की इस डाली से उस डाली पर फुदकती फिरती-सी, और मैं हूँ कि वाह-वाह करना चाहता हूँ, पर कर नहीं पाता।

अगले दिन जो कोई भी मिला, उसी से मैंने पूछा, "आज रात को मिस बुलबुल की कला देखने आओगे न?"

कहने का मतलब यह था कि तुम आओ या न आओ मैं तो जाऊँगा! किसी न किसी प्रकार, घुमा-फिरा कर, यह रहस्य प्रकट करने के लिए मेरा पेट बुरी तरह फूल रहा था।

और, जब लोग मेरे प्रश्न के उत्तर में बड़ी उदासी और निराशा के साथ सिर हिलाकर अपनी असमर्थता प्रकट करते, तब मैं मन ही मन इतना प्रसन्न होता था कि कह नहीं सकता। उनके उत्तरों से मुझे अपने सौभाग्य की असाधारणता का अधिकाधिक ज्ञान होता जाता था। स्वर्ग सबके लिए नहीं होता।

दफ्तर में भी यह समाचार बिजली की तरह फैल गया। साथियों में से कुछ हाथ मलकर रह गये, कुछ ने मेरी पीठ ठोकी।

"बड़ी दूर की कौड़ी लाये, उस्ताद," एक बोला।

अपनी बुद्धिमानी का महत्व आज मुझे स्वीकार करना पड़ा।

किसी ने सन्देह प्रकट किया, "तार पाकर भी श्रीमतीजी ने तुम्हें लखनऊ जाने के लिए न कहा, तब?"

"कहेंगी कैसे नहीं?" मैंने समाधान किया, "भाई की बीमारी का तार आये और बहिन के कान पर जूँ न रेंगे, यह सम्भव नहीं।"

"किन्तु, यदि वे भी साथ जाना चाहेंगी, तो तुम्हारा सारा खेल बिगड़ जायगा।"

"नहीं। शुक्रास्त के होते हुए, वे गोद मे बच्चा लेकर कभी यात्रा नहीं कर सकतीं।"

एक बार फिर मेरी प्रशंसा के पुल बँधने लगे। सन्देह करने वाले को अप्रतिभ होना पड़ा।

उसने कुछ ठहरकर, कुछ सोचकर, फिर प्रश्न किया, "अच्छा, साले साहब की बीमारी की कहानी को फिर कैसे दबाओगे ?"

"कह दूँगा किसी दुश्मन ने परेशान करने के लिए झूठा तार दे दिया था।"

"भाई मान लिया," उसने अन्त मे कहा, "तुम कच्ची गोलियो से नहीं खेलते।"

दफ़्तर से लौटते समय सैलून मे फिर से दाढ़ी बनवाई। सवेरे अपने हाथ से बनाई जरूर थी, और काफी खींच-तान करके बनाई थी; पर, इस समय कुछ त्रुटियाँ मालूम देने लगी थीं। इस अवसर विशेष पर मैं सूरत-शक्ल से, कपड़े-लत्ते से, सब तरह से सबसे अधिक भद्र पुरुष जान पड़ना चाहता था।

मैंने अपना कार्यक्रम मार्ग मे निश्चित कर लिया—बिस्तर आदि लेकर साढ़े आठ, पौने नौ बजे तक स्टेशन पहुँच जाऊँगा। आज-कल गाड़ी मे बड़ी भीड़ होती है, पहले पहुँचना ठीक होता है, यह श्रीमतीजी जानती हैं। स्टेशन पर अपना सामान दो

आना प्रति बंडल देकर जमा कर दूँगा। फिर तुरन्त संगीत-सम्मेलन जा पहुँचूँगा। वहाँ का आनन्द लूटने के पश्चात् शेष रात आकर स्टेशन के वेटिंग रूम में काटूँगा, और कल पहली ट्रेन से लखनऊ पहुँचकर साले साहब के स्वास्थ्य का समाचार लूँगा, तब लौटूँगा।

मेरे आगे सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि किसी सिनेमा-अभिनेता का साथ मैंने जीवन मे कभी नहीं किया था। हृदय में तो वसन्तोत्सव की उमंगे थीं; किन्तु मुखाकृति से भादो की घटा का प्रदर्शन करना था। कभी-कभी निकट के किसी सम्बन्धी की बीमारी का समाचार भी बड़ी विकट समस्या उपस्थित कर देता है।

घर पहुँचने पर नाश्ते से भी पहले श्रीमतीजी के हाथ से मुझे जो कुछ मिलने की आशा थी वह थी—एक छोटा-सा बादामी रंग का लिफाफा। किन्तु समझदार श्रीमती ने पहले जल-पान का सामान दिया। शायद इसलिए कि चिन्ता का विषय उपस्थित हो जाने पर मनुष्य को खाना-पीना भला नहीं लगता। नाश्ता कर चुकने के बाद मैं बिलकुल तैयार होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगा। देर हो गई तो सन्देह हुआ कि बात श्रीमती के ध्यान से उतर न गई हो।

मैंने घुमाकर प्रश्न किया, "कोई नई बात तो नहीं है जी ?"

श्रीमतीजी ने उत्तर दिया, "आज का समाचार-पत्र बैठक मे पड़ा होगा।"

"कोई चिट्ठी-पत्री तो नहीं आई ?"

"नहीं।"

इसके ये अर्थ थे कि तार अभी तक नहीं आ पाया था। मैं बैठकर उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा करने लगा। धीरे-धीरे मेरी उत्सुकता उद्विग्नता मे परिवर्तित होने लगी। कुछ ही घंटो की अवधि और थी।

अन्ततः मुझे मानना पड़ा कि अर्द्ध-परिचित व्यक्ति को रूपया देकर मैंने बड़ी भूल की। आज-कल किसी का क्या विश्वास किया जाय ? बड़ा धोखा हुआ। यह भी पता न था कि वे हजरत यहाॅ कहाॅ रहते है। कठिनाई से कमाये और उससे भी अधिक कठिनाई से श्रीमतीजी से प्राप्त किए हुए रुपयो मे से एक मुफ्त मे गया, और ।

मै, हताश, जी मसोसकर रह गया।

बिछौने पर बेचैनी की करवटें बदल-बदलकर, मैंने संगीत-सम्मेलन की अंतिम बैठक की घड़ियाॅ काटी। मिस बुलबुल के चरणों की कला-कुशलता पर जिन हाथो से ताली बजाने की सोची थी उन्ही से सिर पीट लेने की इच्छा होती थी।

दूसरे दिन दफ्तर मे किसी से ऑख मिलाने का साहस न होता था। सारी चतुराई रक्खी रह गई।

शहर मे जगह-जगह यह विषय छिड़ा था कि पिछली रात मिस बुलबुल के नृत्य मे क्या-क्या विशेषताएँ थीं। मै इस योग्य न था कि इन आलोचनाओ मे चाव से भाग ले सकता। कितना अभागा था! अब क्या आशा की जा सकती कि

निकट-भविष्य मे कभी ऐसा अवसर आ सकेगा! मिस बुलबुल कोई साधारण लड़की न थी, जो बार-बार जनसाधारण के बीच उपस्थित हो सकतीं। वे क्यो अपनी कला को कभी सस्ती बनाना पसन्द कर सकती थीं ?

मैं बुरी तरह चूक गया। अब पछताना ही हाथ रह गया। ठीक है, तक़दीर के आगे किसी की तदबीर नही चलती।

शाम को श्रीमतीजी ने कहा, "आज रात को माथुर साहब के यहाँ दावत है। मिसेज़ माथुर आई थीं। तुमको भी आमंत्रित कर गई हैं।"

मेरे लिए दुनिया मे कहीं कोई आकर्षण नही रह गया। हृदय मे उत्साह का नाम नहीं रहा।

श्रीमतीजी ने आगे कहा, "जानते हो, किस बात के उपलक्ष मे यह दावत दी जा रही है ?"

न मैं जानता था, न जानना चाहता था।

वे कहती गई, "कल रात संगीत-सम्मेलन मे मिस बुलबुल की कला पर मुग्ध होकर श्रीमती माथुर ने उन्हे एक सोने का पदक भेट करने की घोषणा करवाई थी।"

मिस बुलबुल का नाम मेरा समस्त ध्यान आकर्षित करने के लिए बहुत था।

"वास्तव मे बात यह है," श्रीमती ने स्पष्ट किया, "कि मिस बुलबुल मिसेज़ माथुर की छात्रा रह चुकी हैं, और, इसके अतिरिक्त बुलबुल की माँ, और मिसेज़ माथुर मे दाँत-काटी रोटी है। नहीं तो किसे पड़ी थी कि इस तरह खर्च-खराबी करता।"

मेरी समझ मे बहुत कुछ आ गया।

थोड़ा ठहरकर श्रीमतीजी ने कहा, "उसी ख़ुशी मे यह दावत दी गई है और पदक इसी दावत के अवसर पर भेट किया जायगा।"

फिर कहा, "और, मिसेज़ माथुर कह रही थी कि मिस बुलबुल अपना एक-आध नृत्य भी दिखलायेंगी, इसका भी आयोजन किया गया है।"

"क्या ?"—मैंने चौंककर पूछा। मुझे अपने कानों पर सहसा विश्वास न होता था।

"हाँ," श्रीमतीजी ने विश्वास दिलाया।

अन्धा क्या चाहे ?—दो आँखे।

इस समय श्रीमतीजी मुझे इतनी भली लगी कि कह नही सकता। उनके श्रीमुख से कभी मीठी बात निकल सकती है, यह मैंने पहली बार जाना।

हृदय-नगर से ब्लैक-आउट के प्रतिबन्ध उठ गये। बुझे हुए दीपक जल उठे। हृदय ने बुद्धि को गुदगुदा कर कहा, "देखा ? .... तब न सही तो अब सही......उन्हे देखने की हसरत आखिरकार निकलेगी ही।" बुद्धि ने मुस्कराकर कहा, "भला ऐसा भी कभी हो सकता है कि जिस पर जिसका सत्य स्नेह हो, वह उसे न मिले ?"

देर हुई; पर अच्छा हुआ—मैंने सोचा—'उन्हे' अधिक निकट से देखा जायगा।

मरते हुए को 'पेन्सिलिन' मिल गई थी न।

जूतों से लेकर चेहरे तक की चमक का इत्मीनान किया

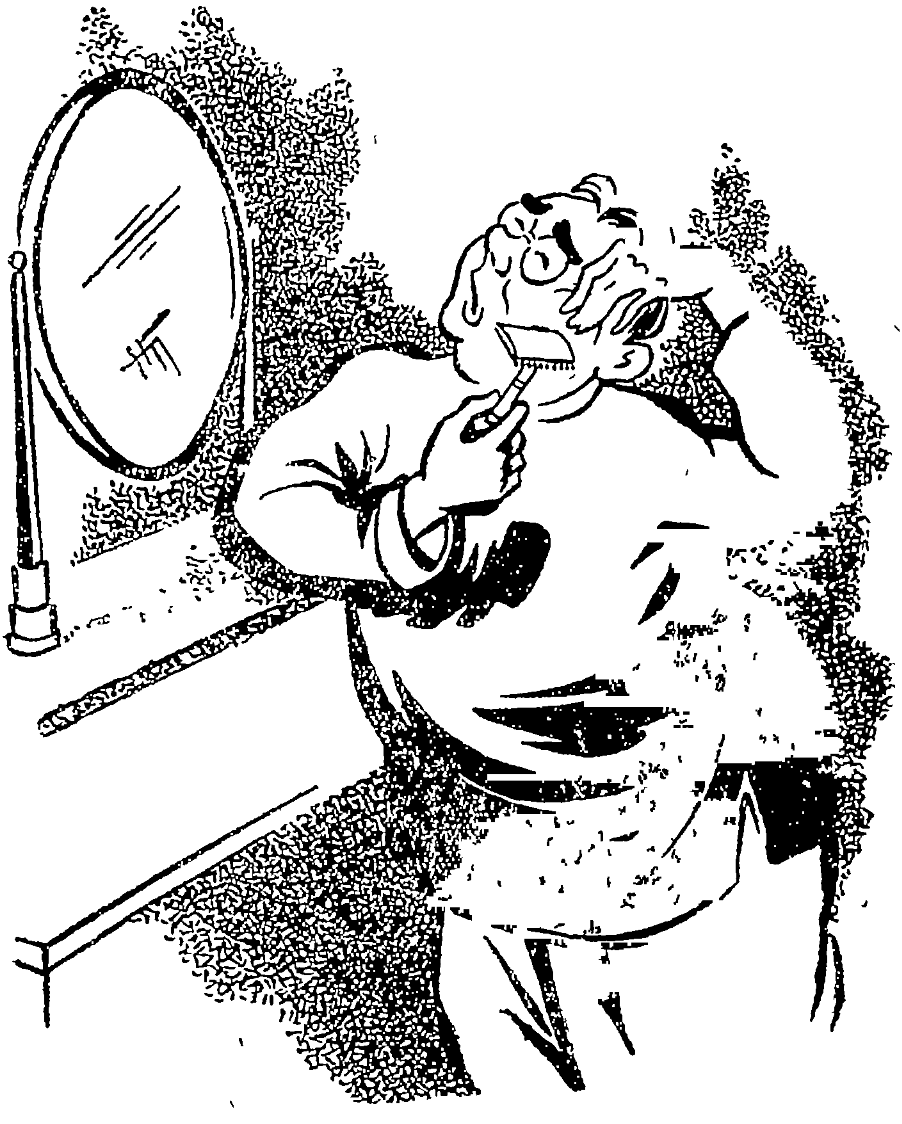

गया। छत्तीस घंटे में यह मेरा तीसरा 'शेव' था।

नये सिरे से तैयारियाँ करने के सिलसिले में मैं .खुशी के

मारे नाचा-नाचा फिर रहा था। इतने मे बाहर से आवाज़ आई, "कोई है ?"

"कौन है ?" मैंने डाटकर पूछा।

श्रीमतीजी को मेरे इस व्यवहार से आश्चर्य हुआ, पर मै क्या करता ? इस समय मै लाट साहब की भी सुनने को तैयार न था।

आवाज़ आई, "बाहर आइए, बाबू जी, तार है।"

"क्या ?" ...कम्बख्त !

मुझे मूर्छा-सी आने लगी।

श्रीमतीजी ने मुझे झकझोर कर कहा, "जल्दी से देखो तो क्या है ?"

बुरा हो युद्ध का ! कब का तार, कब पहुँचा ! बहुत बुरी देर हुई।

जिसे मैंने सीढ़ी बनाना चाहा था, उसने समय पर काम तो दिया नही, उलटे. जब दूसरा दुर्लभ अवसर किसी प्रकार हाथ आया, तब वह एक अड़ंगा बन बैठा।

क्या कोई पति कभी अपनी पत्नी से पेश नही पा सकता ? कभी भी नही ?

क्या कहूँ ? किसी को क्या पता था, मेरी यह तैयारी अन्ततः लखनऊ यात्रा की तैयारी साबित होगी ? फिर भी यदि मैं भाग्यवाद मे अपना विश्वास न प्रकट करता तो कैसे न करता ?

———

पेरैम्बुलेटर

"भई, ज़रा जल्दी करना !" कहा मैंने—एक बार नहीं, दस बार। और, हर बार श्रीमतीजी ने बतलाया कि बस, अब देर नहीं।

मैं तैयार बैठा था। श्रीमती भी तैयार हो चुकी थीं। अब बच्चों को तैयार कर रही थीं।

सभी जानते हैं, मर्द पर एक रुपया खर्च होता है, बीवी पर दो और बच्चों पर चार। शायद घर से बाहर निकलने की तैयारी मे समय भी इसी अनुपात से लगता है।

अधिक नही, यदि केवल पन्द्रह मिनट प्रति बच्चे के लिए रख ले, तब भी पूरा एक घंटा तो हमारे बच्चों ने ले ही लिया। इसमे श्रीमती का क्या दोष ?

"क्या देर है ?" मैंने पूछा।

"बिलकुल नहीं," श्रीमती ने बतलाया, यद्यपि इसके बाद भी लगभग बीस मिनट की देरी होने की पूरी उम्मीद थी।

ख़ैर, अन्ततः, श्रीमती ने सारे बच्चो को तैयार कर लिया और किसी प्रकार सारी पलटन सज-धजकर बाहर निकली। ठीक साढ़े छः बजे शाम को नुमाइश पहुँचने की योजना, बहुत जल्दी करने पर भी, सवा आठ बजे कार्यान्वित हुई। मुझे श्रीमती को बधाई देनी चाहिए थी। पर मैंने दी नहीं, क्योकि समय और क्षेत्र इसके उपयुक्त नही थे।

"देखना, बच्चो को सँभाले रहना। सबकी पूरी देख-भाल करना," कहकर श्रीमतीजी, पूर्व-निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार, नुमाइश के प्रवेश-द्वार से अलग हो गईं। उनको यह पसन्द नहीं था कि नुमाइश मे उनकी कोई सहेली मिले और समझे कि श्रीमतीजी ने अपनी सभी सहेलियो को मात कर दिया है। उनका बच्चो-कच्चो के साथ देखा जाना हास्यास्पद था। यह उनके लिए एक ऐसी बात थी जिसे उनकी सुकुमार प्रकृति सह नहीं सकती थी।

अधिकांश आधुनिक श्रीमतियो की प्रकृति और उनकी सहन-शक्ति का यही हाल है। और इसलिए, अधिकांश आधुनिक पति मजबूर है कि सर्व-साधारण के बीच छोटे-बड़े बाल गोपालों की देख-भाल स्वयं करें और मेम साहिबाओ की सुकुमार भावनाओ को ठेस न पहुँचने दे।

ठीक है, बच्चो के साथ दिखलाई पड़ने मे बच्चो की माँ को शर्म आती है। किन्तु, क्या बाप बेचारा बेशर्म है? मर्दों के

दृष्टिकोण की चिन्ता किसी को नहीं। मेरी आपत्ति पर श्रीमती ने कहा, "तो क्या तुम मुझे प्रदर्शनी में ले चलकर मातृत्व के आदर्श का प्रदर्शन करना चाहते हो ?"

भला, ऐसा मैं क्यों चाह सकता था ?

"या फिर," श्रीमती ने हँसकर पुनः पूछा, "बर्थ-कण्ट्रोल की आवश्यकता का प्रोपेगैण्डा करने के लिए मेरा उपयोग करना चाहते हो ?"

मैं यह भी नहीं चाहता था, भले ही मेरा स्वाँग बनता। मैंने कहा, "तो क्या तुम्हारी यह इच्छा है कि तुम्हारा पति एक बेबी को कन्धे पर चढ़ाकर, दूसरे को उँगली पकड़ाकर और शेष दो को पेरैम्बुलेटर-गाड़ी में लेकर चले और नये व्यंग-चित्रकारों की प्रेरणा का मसाला बने ? क्या स्त्रियों को ही लाज लगती है, पुरुषों को नहीं ?"

उत्तर मिला, "पुरुष को जी कड़ा करना चाहिए। यह उसका प्राकृतिक गुण है।"

चाहे मुझे साक्षात् कार्टून बनना पड़ता या व्यंगोक्तियों का निशाना, मैं इनकार नहीं कर सकता था। मेरे बचाव का कोई रास्ता न था। श्रीमती के मधुर शब्दों में इसका यह कारण था कि—जिसकी कमाई इतनी नहीं कि एक दाई रख सके, उसे नाक सिकोड़ने का कोई अधिकार नहीं।

मैं भी नाक नहीं सिकोड़ सका।

श्रीमती अपना 'पर्स' लेकर अपनी राह गईं और मैं 'जी कड़ा करके' बच्चों की गाड़ी ठेलता हुआ नुमाइश की सैर करने

लगा। मुझे अपने प्राकृतिक गुण की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना था।

राह मे एक साहब एक दूसरे साहब से टकरा गये और अपनी इस असावधानी पर खेद प्रकट करते हुए बोले, "क्षमा कीजिएगा, मै उधर देख रहा था।"

उनका संकेत मेरी ओर था। मै अपने क्रोध को पीकर रह गया।

बतलाऊँ, मैंने नुमाइश मे क्या देखा और क्या सुना। युवतियो की तिर्छी नज़रें, अपने मुँह पर गड़ती हुई मैने देखी। लोगो को आँखे फाड़-फाड़कर अपनी ओर देखते हुए मैने पाया। सुन्दरियो को मुँह पर रूमाल रखकर मुस्कराते मैंने देखा। युवको को अट्टहास करते और यारों को बोलियाँ बोलते मैने सुना।

इनके लिए गोया यह नुमाइश नही थी, कोई चिड़ियाख़ाना था, और मै आदमी नही, कुछ और था—चिड़ियाख़ाने का कोई जीव!

मैं सबको मन-ही-मन कोसता आगे बढ़ता गया। परन्तु मै, एक मर्द, कब तक इस सौन्दर्य-संसार मे आँखे नीची करके चल सकता था—आख़िर कब तक?

मैने जी को और कड़ा किया। धीरे-धीरे लोगो की हँसी की अवहेलना करने का अभ्यास बढ़ता गया। चाहे जिस प्रकार होता, मुझे अपने मन मे साहस का संचार करना ही था। नुमाइश आने के यह मानी नही होते कि आदमी लोगो से आखे चुराता फिरे। वह जन्म से सौंदर्य प्रिय होता है और सौंदर्य-

प्रियता की लालसा पूरी करने के लिए, इस युग में, नुमाइश से बढ़कर स्थान और कहाँ ?

अतएव मैंने भी, अन्ततः, इधर-उधर देखना शुरू कर दिया। संकोच की अवधि समाप्त हो गई थी।

सुन्दरियाँ तो अनेक देखने मे आईं—एक से बढ़कर एक। किन्तु, चमकीले सितारो की काली साड़ी पहने, एक ऐसी चन्द्र-मुखी मिली कि मेरी दृष्टि मे, केवल उस दूकान को छोड़कर जिस पर वह कुछ खरीद रही थी, सारी नुमाइश मे, हजारो बिजली-बत्तियो के होते हुए भी, एकदम अँधेरा-सा हो गया।

मैं गाड़ी खड़ी करके ज़रा ठहर गया। उस सुन्दरी की दृष्टि मेरी ओर फिरी। मै कृतार्थ हो गया। मैं बाल-बच्चो को भूल गया, गाड़ी को भूल गया, दुनिया को भूल गया।

और, उस सुन्दरी ने, मेरी ओर सहज मुसकान से चमकती हुई आँखो से देखते हुए, अपने साथ के मर्द की बाँह को झकझोरकर कहा, "ए जी, वह .."

'देखो' कहने की आवश्यकता न थी। उसके पति ने मुड़कर मेरी ओर देखा। मै झट आगे बढ़ गया। किन्तु, मुझे स्मरण है, मर्द के मुँह पर व्यंग की मुसकान न थी। मुझे देखकर शायद उस बेचारे की आँखो के आगे उसके अपने भविष्य का नक़शा खिंच गया था।

मेरा स्वस्थ रङ्ग-रूप, मेरा क़ीमती सूट, सब व्यर्थ था। युवतियाँ मुझे प्रशंसा की दृष्टि से देख ही नही सकती थीं। मेरे साथ लगे विज्ञापनो से सिद्ध था कि मै अब उनकी दृष्टियो का

पात्र बनने का अवसर खो चुका हूँ। उन्हे मेरी ओर ध्यान देने की अब जैसे बिलकुल आवश्यकता नही थी।

कितना अभागा था मै! फिर भी मै किसी तरह अपने जी को संतोष प्रदान करता, अपने ऊपर हँसनेवालो को मूर्ख मानता, चलता ही रहा। मैने इरादा कर लिया कि मुझे किसी की परवाह न करनी चाहिए।

लेकिन इस तरह भी मन को धीरज बँधाने का अवसर मिलता, तब न। अभी मै पूर्ण रूप से स्वस्थ-चित्त हो भी न पाया था कि इतने मे पेरैम्बुलेटर मे बैठा हुआ एक बच्चा मचल गया। लाख कोशिश करने पर भी मै समझ न सका कि आखिर वह चाहता क्या है। कुशल यह थी कि लीला मेरे साथ थी। छः वर्ष की यह बालिका इस मामले मे अपने बाप से अधिक जानकार सिद्ध हुई। उसने बतलाया कि चुन्नू इसलिए मचला हुआ है कि उसे ग़ुब्बारा चाहिए। सचमुच चुन्नू की दृष्टि उसी दूकान की ओर थी, जहाँ हवा मे उड़ने वाले रङ्गीन ग़ुब्बारे बिक रहे थे। मैने लपककर एक गोल ग़ुब्बारा ख़रीद लिया। लेकिन चुन्नू फिर भी सन्तुष्ट न हुआ।

लीला ने फिर सुझाया, "इसे लौकी चाहिए।"

"लौकी-कुम्हड़ा यहाँ कहाँ ?" मैंने पूछा।

लीला ने स्पष्ट किया, "इसे लौकी-सा लम्बा ग़ुब्बारा, बड़ा वाला, चाहिए।"

मैने वह भी ला दिया। उसे लेकर चुन्नू साहब का मिजाज़ कुछ ठीक हुआ।

आगे चलकर मैंने देखा कि अब लीला मुँह फुलाये हुए है। पूछा, "तुम क्या चाहती हो ?"

उसने संकेत किया और मैंने उसे मुँह से बजनेवाला बाजा ले दिया। इसके बाद उसे हिलाने से चूँ-चूँ-चूँ करनेवाली गुड़िया की आवश्यकता हुई। वह भी पूरी की गई। इसी प्रकार कुछ और खिलौने लेने पड़े।

मैं सोचने लगा—एक ज़माना था जब सिनेमावाले सादी नोटिसें बाँटकर ही रह जाते थे। धीरे-धीरे उनके विज्ञापन का रूप विस्तृत हुआ और वे गाड़ियों पर बड़े-बड़े पोस्टर सजाकर तरह-तरह के बाजे बजाते हुए बड़ी धूम-धाम से निकलने लगे।

वही स्थिति मेरी हुई। चुन्नू ने रंगीन ग़ुब्बारों को गाड़ी पर से उछाल-उछालकर शोर मचाया। लीला ने मुँह के बाजे को ज़ोर-ज़ोर बजाकर कमी पूरी की। गाड़ी में भरे हुए दूसरे खिलौनों का 'डिसप्ले' भी काफ़ी सफल रहा। नुमाइश के प्रकाशमान वातावरण और चहल-पहल से भी बच्चों की किलकारियों को पर्याप्त मात्रा में उत्तेजना प्राप्त हुई। इस प्रकार मेरा विज्ञापन सिनेमावालों के विज्ञापनों से अधिक आकर्षक प्रमाणित हुआ। मैं जिधर से निकलता, उधर ही लोगों की दृष्टियाँ मुझ पर और मेरे तमाशे पर केन्द्रित हो जाती।

पहले मैं हँसता था कि स्त्रियों का लोगों के दृष्टि-निक्षेप से चिढ़ना व्यर्थ है। लेकिन आज स्वयं मैंने अनुभव किया कि सुन्दरियों को रसिक लोगों के घूरने से क्या और कैसी परेशानी

होती है। पुरुषो के विरुद्ध स्त्रियों की इस शिकायत के औचित्य को मैंने आज समझा। जिस प्रकार, बच निकलने का कोई मार्ग न रह जाने पर, कुछ लोगो की इच्छा होती है कि धरती फट जाती और वे उसमे समा जाते, ठीक उसी प्रकार मेरी भी इच्छा हुई कि काश, किसी दैवी चमत्कार से इस समय कही से एक बुर्क़ा हाथ लग जाता और मैं उसे ओढ़कर इन कौतुकप्रिय दृष्टियो से पीछा छुड़ा पाता। मेरा विश्वास है कि यदि अधिकांश पुरुषो को मेरी इस स्थिति मे रहना पड़े तो निस्सन्देह पुरुषो मे भी पर्दे की प्रथा का प्रचार हो जाय!

यही बस नही हुई। अभी हमारा कारवाँ कुछ ही दूर बढ़ा था कि चुन्नू की 'लौकी' फूट गई। उसे ख़रीदने मे मेरे जो पैसे लगे, वे क्षण भर में व्यर्थ हो गये। मैं नहीं चाहता था कि बच्चो के लिए कभी ऐसी चीजें ली जायँ जो जल्द टूट-फूट जाती है। श्रीमती को पता था कि मै इसके विरुद्ध हूँ। पर मैं, क़सम खाकर कहता हूँ, इस हानि के लिए चुन्नू को मैंने डाटा-फटकारा या मारा नही। फिर भी वह गला फाड़कर रोने लगा।

मै आश्चर्य मे पड़ गया। मेरी समझ मे न आया, इसमे चुन्नू को रोने की क्या ज़रूरत थी। डर था कि इस समय कही श्रीमती न आ जायँ और समझें कि इसमें मेरा ही कोई दोष था।

अब मैं चुन्नू को कैसे चुप कराता? लीला ने मुझे इस कठिनाई से छुटकारा दिलाया। बतलाया, "इसे दूसरी लौकी ले दो।"

मैंने गाड़ी लौटाई और हम फिर वहीं वापस पहुँचे जहाँ गुब्बारे बिकते थे।

दूसरा गुब्बारा मिलते ही चुन्नू का सारा रोना ठीक उस तरह गायब हो गया, जिस तरह रात को बेड-स्विच दबाते ही कमरे का अँधेरा एक-ब-एक गायब हो जाता है।

मै पेरैम्बुलेटर को अभी ठीक से मोड़ भी न पाया था कि सामने से मेरे परिचित एक सभ्य पत्रकार आते दीख पड़े। कुशल थी कि अभी उनकी दृष्टि न तो मुझ पर ही पड़ी थी और न मेरे दल पर। मै इस रूप मे किसी परिचित व्यक्ति के आगे नही पड़ना चाहता था। मैंने लीला से कहा, "देखो, तुम ज़रा गाड़ी पर हाथ रखकर खड़ी रहो। मै यही पास मे हूँ। बस, अभी आया।"

मै वहाँ से हटकर दूसरी ओर चला गया। फिर, जब वे उधर से निकल गये तो मै लौट आया और पूर्ववत् अपना कर्त्तव्य-पालन करने लगा।

अब सबसे छोटे बेबी की बारी आई और वह गाड़ी मे चुपचाप पड़े रहने के बजाय चीख़-चीख़कर रोने लगा। मैंने उसे उठा लिया। तौलिया भीग गया था। मै क्या करता—बेबी को गोद में लेकर झुलाने लगा। दुर्भाग्य से लोरियाँ गाना मैंने कभी सीखा न था। शायद मेरी इसी कमी के कारण ही बेबी का मुँह बन्द नही हो रहा था।

इस बार लीला भी कोई उपाय न बतला सकी। मैं डरा कि शीघ्र ही बेबी के प्रति सहानुभूति प्रकट करने वालो की एक भारी भीड़ मुझे घेर लेगी।

सहसा मुझे याद आया, श्रीमती ने बतला दिया था कि बेबी अगर जागकर रोने लगे तो क्या करना होगा।

किन्तु, यह काम मेरे जैसे भावुक व्यक्ति के लिए एकदम दुस्साध्य था। इतने बड़े जन-समूह के बीच एक हाथ से बेबी को गोद मे लेकर, दूसरे मे बोतल पकड़कर, मैं उसे दूध कैसे पिला सकता था?

मैंने बेबी को गाड़ी मे लिटा दिया और उसमे रक्खी दूध की बोतल को लीला के हाथ मे देकर बेबी के मुँह मे लगाने का आदेश दिया।

फिर मै, पॉच-सात गज़ की दूरी पर, जाकर खड़ा हो गया। एक असहाय पिता की लज्जा-रक्षा का इससे बढ़कर और कोई उपाय नही था।

इतने मे कुसंयोग से मेरे दो अच्छे दोस्त आ मिले। कमबख्तो को आज ही मिलना था। यदि कुछ कुशल थी तो केवल इतनी कि इस समय मै दल-बल-सहित न था—अर्थात् अपने बच्चे-कच्चो से कुछ दूर खड़ा था।

एक ने पूछा, "यहाँ कैसे खड़े हो?"

मैंने टालने के लिए कहा, "ऐसे ही।"

पर दोनो ने आसानी से पिण्ड न छोड़ा। वे भी मेरे साथ खड़े हो गये।

"किसे ताड़ रहे हो?" दूसरे ने पूछा।

"किसी को नही," मैने कहा।

"हमसे न बनो। कोई सुन्दर चिड़िया अवश्य है।"

"नहीं जी," मैंने साफ बात कह दी।

पर उन्हें विश्वास न हुआ और वे वहाँ से हटे नहीं। उधर दूध पिलाने से भी बेबी का रोना बन्द न हुआ। शायद भीगे तौलिये से उसे ठण्ड लग रही थी।

ज्यों-ज्यों बेबी का रोना बढ़ता, त्यों-त्यों बेचारी लीला की परेशानी भी बढ़ती जाती। वह रह-रहकर मेरी ओर अत्यन्त कातर दृष्टि से देखती। मैं आँखों ही आँखों में अपना रोष प्रकट कर देता, जिससे वह कुछ कह नहीं सकती थी। यह बात नहीं कि मुझे लीला की स्थिति पर दया न आती हो। पर मैं इन मित्रों की उपस्थिति में और कर भी क्या सकता था।

"न जाने किसके बच्चे हैं!" एक ने उधर देखकर कहा। मैं कुछ न बोला।

"बच्चा इतना रो रहा है, पर माँ-बाप बेखबर हैं!" दूसरा बोला।

"बड़े लापरवाह लोग हैं!" पहले ने कहा।

"ऐसे लोगों को पकड़कर रूस भेज देना चाहिए! जहाँ सरकारी सुविधाएँ मिल सकेंगी!" दूसरा, अपने व्यंग पर आप ही हँसता, बोला।

"इस चिल्लपों के अतिरिक्त यहाँ और क्या रखा है?" पहले मित्र ने मेरी ओर देखते हुए कहा।

"चलो कहीं और चलकर विधाता की कारीगरी देखें," दूसरे ने अनुरोध किया।

"मनहूस की तरह मुँह लटकाकर एक जगह खड़े रहने से क्या लाभ ?" पहले ने शह दी।

फिर दोनो मेरी बाँह में बाँह डाल मुझे जबर्दस्ती घसीट ले चले।

लीला मुझे 'पापा' कहकर रोकना चाहती थी, किन्तु मैंने ओंठ काटकर मना कर दिया। बेचारी देखती रह गई—छः वर्ष की भोली बालिका, कई बच्चो की निगरानी का बोझ अपने सिर पर लिये।

मैं स्वयं भी, जल्दी से जल्दी जान छुड़ाकर, पेरैम्बुलेटर के पास पहुँच जाना चाहता था। मेरा जी और कही लग कैसे सकता था ? मेरी आँखो के आगे लीला का वह उदास चेहरा नाच रहा था। इस समय मेरे चित्त पर जो बीत रही थी, उसे मैं ही जानता था। मित्रो के दिये हुए 'स्वादिष्ट चने' मेरे मुँह में मिट्टी के छोटे टुकड़े सिद्ध हो रहे थे। कलेजा मुँह को आ रहा था। बुरा हो ऐसे मित्रों का। उन्होने मुझे जल्द न छोड़ा। इसी तरह लगभग बीस मिनट बीत गये—एक-एक मिनट कठिन कारागार के एक-एक वर्ष के समान।

नुमाइश मे जगह-जगह लाउड-स्पीकरो से शान्ति मुमताज़ का कोई नया सिनेमा-गीत सुनाया जा रहा था। मेरे लायक़ दोस्त झूम-झूमकर उसका रस ले रहे थे। सहसा रेकार्ड का बजना बीच मे ही बंद हो गया और लाउड-स्पीकरो-द्वारा एक नया तराना शुरू हो गया—

"देवियो और सज्जनो, स्टाल नम्बर तेरह के सामने किसी का नीले रङ्ग का पेरैम्बुलेटर छूट गया है। उसके साथ कई बच्चे हैं। सबके सब रो रहे है—बहुत रो रहे है। जिन देवी और सज्जन के ये बच्चे हो, वे जहाँ कही भी हो, स्टाल नम्बर तेरह के सामने पहुँचकर अपने बच्चो को सँभालें। बहुत जल्दी करें।"

मेरे कृपालु मित्रो मे से एक ने साश्चर्य कहा, "अच्छा, अभी तक गाड़ीवाले बच्चो की सुधि किसी ने नही ली? शावाश, बड़े भले माँ-बाप है!"

मुझे चक्कर आ रहा था। मेरे सौभाग्य से कपड़े की एक दूकान पर कालेज की कई लड़कियाँ कुछ खरीद रही थीं। मेरे मित्रो को भी कपड़े देखने की आवश्यकता हुई। उनका ध्यान बँटते ही, अवसर पाकर, मै इस तरह भागा—जैसे मै कोई बन्दी था, जिसने जेल की चहारदीवारी से निकल भागने का एक बड़ा छेद ढूँढ निकाला हो। उसी तरह सशंकित, सतर्क और शीघ्रगामी।

लाउड-स्पीकरो से फिर घोषणा की गई—"पेरैम्बुलेटर के साथ की बच्ची भी फूट-फूटकर रो रही है। अपना नाम वह लीला बतलाती है और बाप का नाम. !"

काश, बोलनेवाला सामने होता और उसका मुँह पकड़ सकना मेरे लिए सम्भव होता! मेरे नाम की घोषणा भी आखिर उसने कर ही दी। जिस बात को छिपाने के लिए मैं इतनी परेशानियाँ उठा रहा था, वह एक-दो पर नहीं, नुमाइश मे उपस्थित तमाम लोगो पर प्रकट हो गई।

मै दॉत पीसकर रह गया। मेरे दोस्तों को हँसने का कितना बड़ा अवसर मिल गया! इतना ही नही, जले पर नमक छिड़कने के लिए अभी लाउड-स्पीकरो से कुछ और भी सुनना बाक़ी था।

"देखिए, आपसे हमारा अनुरोध है कि बच्चो को इस प्रकार न छोड़ दिया करें। इससे प्रबन्धको को बड़ी असुविधा होती है। हम यह नही कहते कि आप नुमाइश की सैर का आनन्द न लीजिए, लीजिए, पूरा आनन्द लीजिये। पर, ईश्वर के लिए, अपने बच्चो को भी अपने साथ रखिए। बड़ी कृपा होगी।"

मै एक भी शब्द नहीं सुन रहा था, बेतहाशा स्टाल नम्बर तेरह की ओर भागा जा रहा था—बदहवास।

पर, गज़ब हो गया, वहॉ श्रीमती मुझसे पहले ही पहुँच चुकी थी। मेरे देवता कूच कर गये। स्त्रियो के कानून मे ऐसे जुर्मों के लिए क्षमा की गुञ्जाइश ज़रा भी नही होती।

श्रीमती के मुख-मण्डल पर चिन्ता का कुहरा-सा छाया था। मैं कलेजा थामकर निकट पहुँचा। मुझे देखते ही श्रीमती ने प्रश्न किया, "लल्ला क्या हो गया?"

मैंने देखा, वहॉ कुल जमा तीन ही बच्चे थे। अनायास मेरे मुँह से भी निकला, "लल्ला क्या हो गया?"

"तुमने उसे कहॉ छोड़ दिया?" श्रीमती ने कहा, "मै समझती हूँ कि तुमने, अपनी शान मे आकर, उसे कहीं गोद से उतार दिया होगा और वह वहीं रह गया होगा। उतना छोटा-सा

बच्चा पैदल कहाँ तक चल सकता था। उसकी औकात ही क्या !"

अब मुझे काटिए तो खून नहीं। मैंने अपनी स्मरण-शक्ति पर लाख बल-प्रयोग किया, किन्तु मै किसी भाँति कुछ भी न बता सका।

उन्होंने कहा, "यदि मैं ऐसा जानती कि तुम इतने गैर-जिम्मेदार हो तो मैं बच्चो को तुम्हारे साथ कभी न छोड़ती या फिर नुमाइश देखने ही न आती। इसे देखे बिना कोई जान तो निकल न जाती।"

उन्होने आगे कहा, "मैं डाइन हूँ। खुद मैंने ही अपनी खुशी से अपने लाल को गवाँ दिया।"

मन मे मैं भी अनुभव कर रहा था कि लल्ला सबसे अधिक प्यारा बच्चा था—चुन्नू से भी अधिक, बेबी से अधिक, लीला से भी अधिक। उसका प्यारा मुखड़ा चित्त से क्षण भर के लिए भी न उतरता था। मेरी भी आँखे भर आईं।

लीला ने पूछा, "माँ, लल्ला कहाँ गया ?"

श्रीमती का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे कोई उत्तर न दे सकीं। माँ को रोते देखकर बच्चे भी रोने लगे। मैं अपने को कोस रहा था कि झूठी लज्जा के फेर मे पड़कर मैंने उसका कितना बड़ा मूल्य चुकाया।

श्रीमती का यह अनुभव ठीक ही था कि मै लल्ला को भरी नुमाइश मे कन्धे पर चढ़ाकर या गोद मे लेकर नहीं चल सकता था। अवश्य ही मैंने उसे कहीं उतार दिया होगा। पर यह

कहना ठीक न था कि लल्ला अपने आप नहीं चल सकता था। उँगली पकड़कर चल सकना उसके लिए असम्भव न था। हो सकता है, उसने कहीं मेरी उँगली छोड़ दी हो।

सन्देह मिटाने के लिए मैंने लीला से पूछा—"लल्ला यहाँ से तो कहीं नहीं गया ?"

उसने सिर हिला दिया। ग़नीमत थी कि श्रीमती ने अभी तक यह जवाब नहीं तलब किया था—'तुम इन बच्चों को अकेले छोड़कर कहीं चले क्यों गये थे ?'

लेकिन मैं जानता था इसकी सफ़ाई मुझे बाद को अच्छी तरह देनी पड़ेगी। अभी तो वे खोये बच्चे की चिन्ता में परेशान थीं। जब उनके दिमाग़ से यह चिन्ता निकल जायगी तब उसकी जगह क्रोध लेगा, और फिर !

हम लोग लल्ला की खोज करने लगे। बड़ी दौड़-धूप की गई। नुमाइश का कोना-कोना छान डाला गया। संकट पड़ने पर संकोच हवा हो जाता है। जान-पहचान के जितने लोग मिले, सबसे हमने लल्ला के खोजने की बात बतला दी।

इस समय न श्रीमती को इस प्रकार बच्चों के दल-बल के साथ देखे जाने की चिन्ता थी, न मुझे।

मेरे वे दोस्त भी, दोनों, मिले। एक ने अपनी बाँह से दूसरे की बाँह को छूकर मेरी ओर संकेत किया और दोनों ने मुँह पर रूमाल रख लिया। यह इसलिए कि श्रीमती मेरे साथ थीं और वे खुलकर हँस नहीं सकते थे। वे समझते थे कि मैं नज़र बचाकर निकल जाऊँगा। पर मैंने ऐसा नहीं किया और उन्हें रोककर कहा—"मित्रो, एक लड़का खो गया है।"

"एक लड़का खो गया है !" वे बोले और गम्भीर हो गये.

"किसका लड़का ?"

"मेरा," मैंने बतलाया।

"कैसा है ?" एक ने पूछा।

मैंने उसकी पहचान बतलाई। नाम भी बतला दिया। वे भी खोज करने लगे। दोनों अनुगृहीत करना चाहते थे, मुझे नहीं तो मेरी श्रीमती को सही। पर कोई फल न निकला। अन्त मे नुमाइश के लाउड-स्पीकरों-द्वारा घोषणा करवाई गई—।

"एक साढ़े चार साल का बच्चा खो गया है। नाम लल्ला है। रंग गोरा, चेहरा गोल। मत्थे पर फोड़े का निशान है। आँखे बड़ी-बड़ी है। नाक की दाहिनी ओर एक काला तिल है। बाल बड़े है, घुँघराले। यह बच्चा जिस सज्जन को मिले, वे कृपा करके उसे नुमाइश के दफ्तर मे पहुँचा दे। धन्यवाद। बच्चे के माँ-बाप बहुत परेशान है।"

यह घोषणा एक बार नही, बार-बार कराई गई। पर कोई लाभ न हुआ।

यद्यपि मैंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भाँति पेड़-पौधो और पशु-पक्षियो से पूछ-ताँछ नहीं की, क्योंकि ये नुमाइश मे थे ही नहीं। होते भी तो इस युग मे उनसे उत्तर मिलना सम्भव नहीं था, इसके सिवा मुझमे इतना कवित्व भी न था कि बिजली की बत्तियों और बाँसो से पूछता। फिर भी प्रत्येक दूकानदार से, परिचित-अपरिचित से, सबसे, लल्ला के बारे मे पूछ-पूछकर मैं हार गया।

श्रीमती को दूसरा भय था। उन्होंने कहा, "उसे अकेला पाकर कोई लड़का-चोर न यहाँ से उठा ले गया हो। हे भगवान्, अब मैं क्या करूँ—कहाँ जाऊँ ?"

उनके आँसू थमते न थे। लड़को को फुसलाकर चुरा ले जानेवालो के विषय मे मैंने भी तरह-तरह की बातें सुन रक्खी थी। पुलीस मे सूचना देने के सिवा अब और कोई चारा न था।

दरोग़ा ने पूछा, "लड़का किस रंग के और कैसे कपड़े पहने हुए था ?"

श्रीमती की बुद्धि इस समय ठिकाने न थी। बोली, "ठीक से याद नही, उसे क्या पहनाया था।"

दरोगा, "वाह, आप भी ख़ूब है !"

"मैं क्या करूँ, दोष तो इनका है," श्रीमती ने मेरी ओर संकेत करके कहा, "यही बच्चो को अकेले छोड़कर इधर-उधर उड़ गये थे।"

मै अपना दोष अस्वीकार न कर सका। दरोग़ा ने कहा, "आप लोग ख़ुद बे-खबर रहते है और बाद को पुलीसवालो को तंग करते हैं। ख़ैर, अब इतनी रात को क्या हो सकता है ? कल शहर मे भी तलाश किया जायगा। यदि आपकी किस्मत मे होगा तो लड़का मिल जायगा। हम कोशिश भर कर सकते है।"

अपना-सा मुँह लेकर हम वहाँ से भी निराश लौटे। कोई आशा थी तो केवल इतनी कि यदि लड़का भूल से किसी भले आदमी के साथ चला गया होगा तो भला आदमी कल पुलिस को अवश्य सूचित करेगा।

हम अपने घर का पता लिखाकर नुमाइश से बाहर हुए। ज्यों-ज्यों हम नुमाइश से दूर होते जाते थे, त्यों-त्यों श्रीमती का रोना बढ़ता जाता था।

श्रीमती ने भी महसूस किया कि व्यर्थ के दिखावे के लिए उन्हें बच्चों को अपने से अलग न करना चाहिये था। घर के द्वार पर पहुँचकर हम लोगों का सिसकना और भी बढ़ गया।

श्रीमती बोली, "मैं बिना लल्ला के इस घर में पैर कैसे रक्खूं ? उसे छोड़कर मैं कैसे रहूँगी ? वह बेचारा न जाने कहाँ, न जाने किस दशा में होगा ?"

श्रीमती ने द्वार पर सिर पटक लिया। मैंने बड़ी कठिनाई से उन्हें समझाया-बुझाया। माता का हृदय यों ही कैसे मान पाता।

"तुम किस मुँह से बोलने चले हो ?" श्रीमती ने क्रुद्ध होकर कहा।

मेरा कुछ कहना इस समय निरापद न था। मैंने चुपचाप ताला खोला। पेरैम्बुलेटर को अन्दर किया। बच्चे अन्दर हुए। सबके पीछे श्रीमती ने घर में पैर रक्खा। कहा, "यह घर मुझे काटे खाता है। हाय, मुझसे लल्ला का सूना बिछौना कैसे देखा जायगा ?"

परन्तु, लल्ला का बिछौना सूना न था। वह अपनी जगह पर हाथ-पैर सिकोड़े अच्छी तरह सो रहा था।

मैंने श्रीमती से पूछा, "अब कहो, भूल किससे हुई ?"

"मुझसे नहीं !" श्रीमती ने मुस्कराकर कहा, "तुम्हीं ने चलते समय जल्दी मचाकर मुझे हड़बड़ी में डाल दिया था।"

लीजिए, दोषी फिर भी मैं ही ठहरा !

ज़रूरी बात

आप नही जानते वे कौन-सी वस्तुएँ है जिनसे नारी की जीभ बनती है, न यही कि किन मसालो से नारी की बुद्धि का निर्माण होता है। क्या आप जानना चाहेगे ? अवश्य चाहेंगे। पर, खेद है, मैं आपको बतला नही सकता, इसका स्पष्ट कारण यह है कि मैं स्वयं भी नही जानता !

इस दिशा में यदि मैं कुछ प्रकाश डाल सकता हूँ तो केवल इतना कि जिस वस्तु से नारी की जीभ बनाई जाती है, उसे उसकी बुद्धि बनाने के काम मे नहीं लाया जाता।

इतना मैं दावे के साथ कह सकता हूँ।

× × ×

मेरे एक दोस्त हैं। बडे बेढब है। प्रेमी ऐसे हैं कि उनका कहना है, "यदि श्रीमतीजी और मेरे बीच दो-चार गज़ से

अधिक की दूरी हो तो मैं कोई दिमाग़ी काम नहीं कर सकता।"

इसके अर्थ ये हुए कि श्रीमतीजी के प्रभाव की सीमा के बाहर उनकी बुद्धि ठीक नहीं रहती, और यह आवश्यक है कि जब तक उनके दफ्तर का समय रहे तब तक उनकी ग़रीब घर-वाली नियमित रूप से कहीं आस-पास ही बनी रहे।

उनकी निभ भी जाती है। वह यों कि उनका दफ्तर जो है वह उनका अपना निज का है, मकान के निचले भाग में। ऊपर घरवाले रहते हैं। इस प्रकार, उनकी श्रीमती उनके निकट ही नहीं, ठीक सिर पर रहती हैं। तब उनके सिर के सारे पुर्जे ठीक रहते हैं।

मैं चाहूँ भी तो मेरे लिए यह सुविधा सुलभ नहीं हो सकती। मेरी कथा इसकी उलटी है। दफ्तर घर से ढाई मील दूर है।

और यदि कहीं बीच में यह दूरी न होती तो, दिमाग़ी सुभीते की जगह, शायद मुझे उलटे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता। कारण यह है कि, अपने मित्र के विपरीत, मैं, श्रीमती और अपने बीच दो मील से कम की दूरी होने पर, अपनी बुद्धि ठीक नहीं रख सकता!

मैं कह नहीं सकता कि इसकी तह में मित्र की और मेरी मनोवृत्तियों का अन्तर काम करता है, अथवा, उनकी श्रीमती और मेरी श्रीमती के मिज़ाज़ में ही कोई अन्तर है।

जो भी हो, यह सत्य है कि अर्द्धाङ्गिनी की निकटता से एक ओर मित्र के मस्तिष्क को प्रेरणा मिलती है, तो दूसरी ओर उससे मेरी रही-सही चेतना भी जाती रहती है।

इसलिए, मैंने जो मकान किराये पर लिया, वह उद्देश्य-पूर्वक दफ़्तर से ढाई मील दूर है—श्रीमती की प्रभाव-परिधि के बाहर।

× ×

बाहर से दूर पर बजती हुई टेलीफोन की घण्टी की आवाज़ आई। उसके पीछे आया चपरासी। उसने खाँसा। मैंने ध्यान नहीं दिया। उसने कहा, "बड़े बाबू।" फिर भी मैंने अनसुनी कर दी।

छोटी-मोटी पहाड़ियों की तरह मेज़ पर काग़ज़ों के पोथे, ढेर के ढेर, गँजे हुए थे। और मैं था कि उन पहाड़ियों-पर्वतों के जंगलों में नौसिखिये शिकारी-सा खोया हुआ था।

"बड़े बाबू, आपको कोई टेलीफ़ोन पर बुला रहा है।"

पर, मैं बहुत बुरी तरह व्यस्त था। इस समय मैं न तो टेलीफोन की आवाज़ सुनने को तैयार था, न ग्रामोफोन की, न चपरासी की।

काम और केवल काम की चिंता थी। और कुछ नहीं सूझता था। युद्धोद्योग के सिलसिले मे लाट साहब के शुभागमन की तारीख सिर पर थी। शानदार स्वागत का प्रबन्ध तो करना ही था, युद्धोद्योग-सम्बन्धी काग़ज़ात और कार्रवाइयो के रेकॉर्ड और फाइले एकदम ठीक करने मे एड़ी-चोटी का पसीना एक करना था। समय कम था, करना बहुत कुछ। ऐसी दशा मे मुझे छुट्टी कैसे हो सकती थी कि मैं एक चोगे मे मुँह लगाता और दूसरे मे कान?

मैं पूर्ववत् अपने काम मे लगा रहा, जैसे मैं उन काग़ज़ों के उलटने-पलटने से होने वाली आवाज़ को छोड कर कुछ और सुनना सहन नही कर सकता था। अवसर ही ऐसा था।

चपरासी खड़ा रहा। कुछ देर बाद उसने अपनी बात फिर दुहराई। मैं झुँझला गया।

"बुलाने दो," मैंने झिड़क दिया। फिर पूछा, "कौन बुला रहा है? कह दो छुट्टी नहीं।"

जाते-जाते चपरासी बोला, "मैंने नाम पूछा था। उत्तर मिला, तुमसे मतलब नहीं; बड़े बाबू को हो भेजो। बोली से जान पड़ता है कि कोई औरत है।"

"ठहरो," मैं बोला, उठ खड़ा हुआ और अँगड़ाई लेकर, टेलीफोन वाले कमरे मे गया।

कौन औरत मुझे इस समय याद कर सकती है ? कैसे ? क्यो ? आदि प्रश्नो की प्रतिध्वनि से मेरा हृदय, धक-धक नहीं, धड़-धड़ कर रहा था। पता नही, वह बहुत रूपवती है या योही। खेद है, विज्ञान अभी तक टेलीफ़ोन के साथ बोलने वाले को देखने का आविष्कार नही जोड़ सका।

कुछ-कुछ रोमांस की आशा से मैंने चोग़ा उठाया, कहा, "हल्लो !"

मेरी आशा एकदम निरर्थक सिद्ध हुई।

उधर तार-बाबू का लड़का बोल रहा था। उसने बतलाया, तार-बाबुआइन हमारे यहाँ गई हुई थी। उनसे मेरी उन्होंने फ़ौरन घर पहुँचने का सन्देश फ़ोन से मेरे पास भेजने को कहा था।

मैंने पूछा, "क्या बात है ?"

लड़के ने कहा, "पता नही।"

मैंने फिर पूछा, "ख़ैरियत तो है ?"

"पता नहीं," तार के दूसरे सिरे पर कहा गया।

मैं चक्कर मे पड़ गया। बोला, "बच्चा, जाकर अपनी माताजी से पूछ आओ।"

कुछ देर मे लड़के ने बतलाया, "माताजी कहती हैं, बहनजी को कोई ज़रूरी बात कहनी है।"

मैंने कहलाया, "पर, मुझे इस समय छुट्टी जो नही है ?"

लड़का फिर गया और लौटकर बोला, "माताजी कहती हैं, तो छुट्टी ले लीजिए।"

मैं किस से कहता कि जब लाट साहब के आ पहुँचने मे केवल अड़तालिस घण्टे की देर है, छुट्टी का प्रश्न नही उठ सकता।

"बड़ी कठिनाई है," मैंने फोन पर कहा।

लेकिन लड़का वहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो चुका था।

मैंने चपरासी को घर दौड़ाया। अपनी कठिन परिस्थिति कहला भेजी।

पूरे घण्टे भर बाद वह लौटा। उसने भी बतलाया, बहुत ज़रूरी बात कहनी है, तुरन्त जाइए। उन्होंने कहा है—दस मिनट के लिए आ जायँ, इतनी देर मे कोई क़िला न जीत लेंगे।

मैं मजबूर हो गया। श्रीमती का आग्रह टालना साधारण बात न थी। फिर यह भी सोचा मैंने कि सचमुच कोई ख़ास बात न होती तो श्रीमतीजी, चपरासी से मेरी कठिनाइयो को जान कर भी, इतना आग्रह न करती।

इधर कलक्टर साहब के कचहरी आगमन का समय भी हो चला था। यह भी एक कठिन समस्या थी। साहब की नाक पर ग़ुस्सा रहता था। वे किसी की ग़ैरहाजिरी कब बर्दाश्त कर सकते थे? पर, मैंने यह ख़तरा भी ओढ़ा।

पेशकार से कहा, "कह देना, उनके पेट मे दर्द होने लगा था, अभी आते हैं।"

इसके बाद भी एक गोरखधन्धा और भी सुलझाने को था। कचहरी और मेरे घर के बीच मे, दोपहार की धूप और लू की आँच से तपे हुए, दो पत्थर मील के पड़ते थे।

उनसे भी निबटना था।

साइकिल के पहिये, पक्के सवा दो मन का बोझा लाद कर, ऐसे समय मे सीमेण्ट की सड़क से लोहा ले सकते, इसमे कुछ सन्देह था। मेरी हिम्मत इसलिए नही पड़ती थी कि न तो मेरे पास पंक्चर और बर्स्ट जोड़ने के मामान थे, न प्याज़, जिसे मैं जेब मे रख कर लू से टक्कर ले सकता।

परन्तु, श्रीमती की जरूरी बात सुने बिना भी नहीं रहा जा सकता था। न जानें क्या आकस्मिक बात आ पड़ी थी कि ऐसे कुसमय मे बेचारी ने याद किया। मेरे मन मे खलबली मची हुई थी।

मैंने चपरासी से कहा, "झपट कर एक ताँगा लाओ।"

कोई ताँगेवाला ऐसे विकट समय मे डेढ़ रुपये से कम लेने को तैयार न था—वह भी केवल पहुँचाने भर के लिए, एक ओर का।

कोई पर्वाह नही! अवसर पड़ जाने पर रुपयो का मुँह नहीं देखा जाता। मेरे सामने प्रश्न यह था कि शीघ्र से शीघ्र पहुँच कर श्रीमती का हाल-चाल लिया जाय; उनके नन्हे-से हृदय पर न जाने क्या बीत रही होगी।

मेज़ पर लगे हुए पहाड़ो को मैंने उसी तरह रहने दिया। आगे के काग़ज़ो मे से किसी को पेपर-वेट के नीचे रख दिया, किसी को उलट कर किसी फाइल के नीचे दबा दिया और किसी को इधर खोंस दिया, किसी को उधर। न कुछ ठीक, न

कोई ठिकाना। जहाँ पाया, वहाँ फेंक दिया। इस समय मै विकट जल्दी में था, चाहे जो गड़बड़ी हो जाती।

मैंने माना की सरकारी काग़ज़ो के साथ ऐसी लापरवाही न वरतनी चाहिए थी और काग़ज़ात बहुत महत्त्व के तथा आवश्यक थे। यह भी माना कि उन्हे पहले देखना चाहिए था। पर, यह भी तो सोचने का विषय था कि स्वयं मेरे घर मे कोई बहुत ज़रूरी बात आ पड़ी थी, जो मुझे तुरन्त बुलाया गया था। मैं यह नही कह सकता कि देश की सरकार से घर वाली बड़ी होती है। किन्तु, यह सच है कि पहले घर मे चिराग़ जलाया जाता है, तब मस्जिद मे।

इसी विचार से मैंने सब काम छोड़कर, लाख हर्ज कर के, एक ताँगे को घर की राह पर दौड़ा दिया।

ज्यो-ज्यो मैं यह सोचता था कि वह कौन-सी ऐसी ज़रूरी बात हो सकती है, जिसके कारण श्रीमती को एकाएक मेरी आवश्यकता पड़ गई, त्यो-त्यो मेरा उतावलापन बढ़ता जाता था। मैं ताँगेवाले को सुस्त चाल के लिए रह-रह कर फटकारता था और वह फटकारता था अपना कोड़ा। इस समय मै जीवो पर दया करने की पुरानी शिक्षा को भूल गया था। इतना ध्यान मुझे श्रीमती की बात का था। मुझे विश्वास था कि श्रीमती की बात कोई छोटी-मोटी बात न होगी। होती तो वे टेलीफोन पर ही कहला देतीं।

मैं विल्वमंगल की उस स्थिति का अनुभव कर रहा था, जिसमे उन्हे मुर्दे के सहारे नदी और साँप के सहारे दीवाल पार करनी पड़ी थी।

टेढ़ी-सीधी, सम्भव-असम्भव तमाम बातें मैंने सोच डाली, पर, नतीजा कुछ न निकला। श्रीमती की रहस्यमयी बात का अनुमान न लग सका। किसी भी तरह नहीं।

राम-राम करके, अन्ततः, मैं घर पहुँचा। हाँफते-हाँफते बोला, "उफ! गर्मी के मारे जान निकल रही है।"

"तुम आ गये?" उन्होने कहा।

"हाँ," मैंने माथे का पसीना पोंछते हुए कहा, "यद्यपि इतनी यातना के बाद मेरे बजाय मेरी आत्मा के आने की ही अधिक सम्भावना थी।"

वे तुरन्त गईं, नाश्ता-पानी लाईं।

मैंने अपना असन्तोष प्रकट करने के लिए कहा, "मुझे न बुलवा कर, जो कुछ कहना है उसे यों ही कहला देती तो क्या काम न बनता?"

उन्होने सिर हिला दिया।

"तो फिर शाम तक ठहर जातीं," मैंने कहा, "जब मैं कचहरी से छुट्टी पा कर आ जाता, तभी कहतीं।"

"ज़रूरी बात है," वे बोली।

"अच्छा," मैंने कहा, "जल्द बोलो क्या कहना है। मुझे इसी दम उलटे पैरो लौट जाना है।"

"ठहरो, बतलाती हूँ," वे बोली। फिर अपनी मनोहर ठुड्डी को हाथ मे लेकर द्वार के बाहर शून्य मे देखने लगी।

"जल्दी कहो," मै कितनी उतावली मे था, उन्हे क्या पता?

"जरा ठहरो तो," उन्हो ने कहा। वे सहसा गम्भीर हो गई थी। फिर चमकीले काले बालों से सॅवरे हुए सिर को अपनी गोरी-गोरी उँगलियो से खुजलाने लगी। मुझे लगा, जैसे किसी कोयले की खान मे पॉच गोरे निरीक्षण करने पहुँचे है।

दो ओठ, लाल और पतले, हिले।

मै साँस रोक कर, उत्सुकता-पूर्वक, उनका मुँह ताकता रहा। दोनो ओठ बारी-बारी से एक-एक क्षण के लिए दॉतों की लड़ियो के बीच मे गये और फिर पूर्ववत् हो गये।

श्रीमतीजी चिन्तित-सी लगती थीं।

"बात बड़ी जरूरी है, मुझे कहना यह है कि—" उन्होने अपनी बात नही पूरी की।

भारी पलकें बार-बार झुकी, ऑखे कस कर बन्द की गईं। भौहो मे बल पड़े। वे किस सोच मे पड़ गई थी?

मैं सारी लीला देखता रहा; पर समझ मे कुछ न आया।

"क्यो, क्या सोच रही हो?" मैंने ऊब कर पूछा।

वे कुछ देर तक उसी प्रकार चिन्ता मे पड़ी रही, फिर कुछ उदास हो कर बोली, "मैं सोच रही हूँ, मुझे क्या कहना है।"

"क्या?"—मैं आकाश से गिरा।

"हाँ," वे बोलीं, "कोई बड़ी जरूरी बात कहनी थी, इसीलिए मैंने तुम्हे बुलवाया था। गले मे है, जीभ पर नही आती।"

और, देवीजी को वह बात याद न आई, न आई। मुझे मन मे कहना पड़ा—धन्य है!

देखा आपने मेरी श्रीमती कितनी भोली हैं ?

काश विधाता ने जिस सामग्री से श्रीमती की जिह्वा का निर्माण किया था, वही बुद्धि बनाने मे भी लगाई होती !

मैं इस विषय पर क्या वाद-विवाद करता ? अभी 'साहब' के आगे जवाबदेही करनी थी।

———

कटु अनुभव

प्रश्न था स्वतन्त्रता का। भारत की नहीं, किसी और देश की भी नहीं।

"यूरोप का हिटलर नहीं रहा; किन्तु, भारतीय गृहस्थी के हिटलरों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई," श्रीमतीजी ने कहा। "कोई कारण नहीं कि पुरुष सदा अपना अधिकार हम पर जताये। नारी कब तक दब्बू बनकर रहेगी ?"

मैं कुछ न बोला। किसी समझदार पति को बोलना भी न चाहिए। यह मेरा गुरु-मंत्र रहा है।

श्रीमतीजी ने समझ लिया कि उनके विचारों से मैं सहमत हूँ। इसलिए आगे कहा, "इसमें केवल पुरुषों का दोष नहीं है। स्त्रियाँ, युगों से बन्धन में रहते-रहते, पराये सहारे की अभ्यस्त-सी हो गई हैं।"

मैंने मन में कहा—चलो, तुमने पानी मे मुँह तो देखा।

श्रीमतीजी कहती गईं, "यदि किसी सखी-सहेली के घर

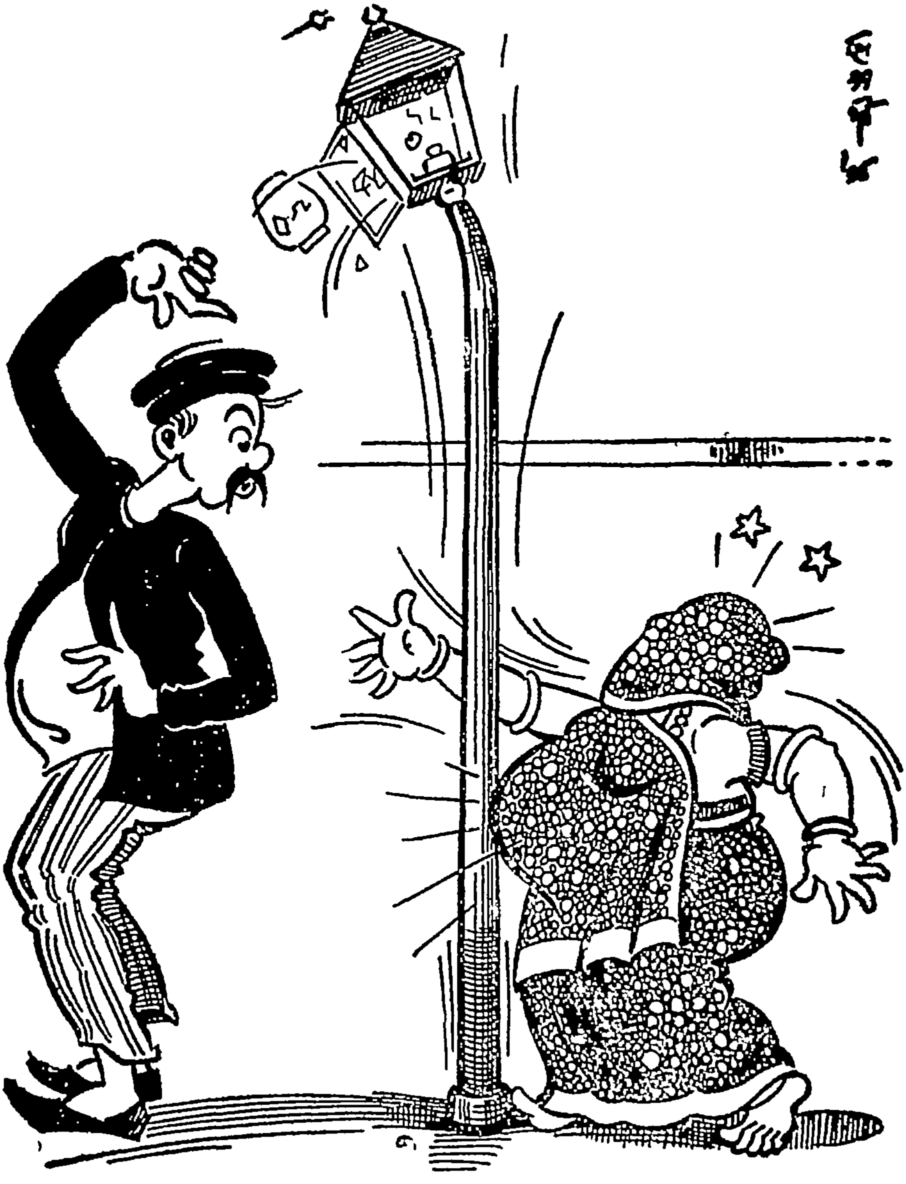

जाना हुआ तो, चाहे वह एकदम बगल वाला ही क्यो न हो, स्त्री महोदया को पुरुष शरीर-रक्षक की आवश्यकता पड़ेगी।"

मैने कहा, "स्त्री-जाति कुछ योही-सी होती भी है। उस दिन राह मे घूँघट के कारण रोशनी का खम्भा किस प्रकार टूटने को हो गया था तुम देखती तो कहती। और, अभी परसो की बात है। मै शर्मा के दरवाजे पर खड़ा देर तक पुकारता रहा कोई उत्तर नही। कोई सुनने वाला नही। पता चला, श्रीमती शर्मा अन्दर थी, पर अकेली, और, स्वयं तो पर्दे मे थी ही, अपनी मधुर वाणी पर भी पर्दा लगा रक्खा था।"

श्रीमतीजी ने रोककर कहा, "तुमसे कोई बैलगाड़ी की कहे तो तुम हवाई-जहाज़ उड़ाने लगते हो। मै केवल यह कह रही थी कि यदि स्त्रियो को अपनी शताब्दियो की परतंत्रता से छुटकारा पाना है तो उनका सबसे पहला कदम यह होना चाहिए कि वे अपने दिल से झूठे भय को, झूठी लज्जा को उखाड़ फेके। कही किसी आवश्यकता से जाना हो तो बिना किसी मर्द को साथ लिये हुए जाने मे न हिचकें।"

मै बोल पड़ा, "हियर-हियर!"

और, नारी के स्वातंत्र्य का प्रश्न सुलझने भी न पाया था कि इतने में देश के स्वातंत्र्य का प्रश्न सामने आ गया। इक्के पर से वालंटियर का बिगुल बजा और घोषणा हुई कि आज शाम को अमुक पार्क मे 'पंडितजी' का व्याख्यान होगा।

नारी की स्वतंत्रता ने देश की स्वतंत्रता का साथ पकड़ा। श्रीमतीजी ने कहा, "ठीक है, मुझे श्रीगणेश करना चाहिए। मैं पंडितजी का व्याख्यान सुनने जाऊँगी, एकदम अकेली जाऊँगी।"

मेरी कोई बहस बेकार होती। वे गईं, और अकेली गईं। पर जब लौटी तो किस मुसीबत के साथ लौटी, कुछ न पूछिए। सुन्दर चेहरे पर बदहवासी और बदहवासी पर पसीने की बूँदे। आँखो मे कुछ विचित्र-सा भय, स्वर मे अभूतपूर्व लड़खड़ाहट। काँपती हुई उँगली उनकी उठी, जिसके संकेत पर मैंने देखा, फाटक के बाहर कोई खड़ा था। उसके खड़े होने के ढङ्ग से निराशा टपक रही थी। रात होने के कारण मै उसे ठीक से तो नही देख सकता था, किन्तु फिर भी म्यूनिसिपैलिटी के 'यथोचित' प्रकाश मे कम से कम इतना तो अनुमान कर ही सकता था कि उसके हाथ मे कोई नोटबुक-सी थी और वह, थका-माँदा-सा, धीरे-धीरे लौट जाने की सोच रहा था। कोई कवि था क्या वह?

श्रीमतीजी ने कहा, "उस आदमी को पकड़कर पुलीस मे दे दो।"

मै चक्कर मे पड़ गया।

श्रीमतीजी ने कहा, "वह मेरा पीछा करता आया है और उसकी नीयत मुझे छेड़ने की थी।"

हमारे बच्चो की गिनती करके, कोई भी होता, ऐसी बात पर हँस देता। पर, मैं नही हँस सकता था। मेरी श्रीमतीजी उन

सौभाग्यशाली स्त्रियो मे थी जो आध दर्जन की 'ममी' हो कर भी अपने को स्कूल-गर्ल बनाये रखती हैं। ख़ैर!

इस व्यक्ति की धृष्टता से मेरे तन मे आग लग गई। मैंने लपक कर उस को रोका, कहा, "ज़रा आप मेरे साथ तो आइए।" उसने कोई आपत्ति न की। चुपचाप मुड़कर मेरे साथ-साथ चलने लगा।

मैंने कुछ कड़े स्वर मे पूछा, "क्या बात है साहब?"

उसने कहा, "यदि आप मुझे मर्द से मर्द की तरह खुल कर बात करने दें तो मै आपसे कहना चाहूँगा कि आपकी श्रीमतीजी ने मुझे ग़लत समझा है।"

× × ×

अच्छा हो, इसके पहले श्रीमतीजी की कहानी श्रीमतीजी के श्रीमुख से सुन ले। तब आगे बढ़ें।

× × ×

"मैंने अपना दाहना हाथ ढीला कर रक्खा था। प्रत्याशित विषम स्थिति का सामना करने के लिए मै पूर्णतया तैयार थी। ज्यो ही वह कोई वैसी अनधिकार चेष्टा करता, त्यो ही अपने कान के पास पटाख़े के दग़ने की-सी आवाज़ सुनता और, दूसरे ही क्षण, अपना एक गाल सहलाने की तीव्र इच्छा का अनुभव करता।

"क्या उसने मुझे कोई ऐसी-वैसी तथा-कथित 'अबला' समझ लिया था, जो उतनी दूर से मेरा पीछा करता आ रहा

था? शायद उसे पता न था कि मैं अपने स्कूल-जीवन मे 'सिंहनी-संघ' की सदस्या रह चुकी थी, जिसने स्वनाम-धन्या सुश्री अभयाकुमारी 'अभया' की अध्यक्षता मे साहस, स्वावलम्ब, स्वतंत्रता, धीरता, वीरता और निर्भीकता के पाठ पढ़ रखे थे। 'वीरांगना' नाम की हमारी एक हस्त-लिखित पत्रिका भी इसी उद्देश्य को लेकर प्रकाशित होती थी। सुश्री अभयाकुमारी 'अभया' के सम्पादकीय लेख पढ़ते ही बनते थे। उन्हे पढ़कर हमारी सुकुमार भुजाएँ फड़क उठती थी। खेद की बात यह थी कि 'अभया'-रचित तीन अनमोल पुस्तके—'हम कम नहीं,' 'उनसे दबे क्यो?' और 'मर्दों को कैसे ठीक करना चाहिए'—जनता तक नही पहुँच सकी, क्योकि जिस व्यक्ति के पास वे प्रकाशनार्थ भेजी गई थीं, वह भी दुर्भाग्य से पुरुष था। यदि तीनों पुस्तकें प्रकाशित हो गई होती तो स्त्री-जाति का कल्याण करने वाले साहित्य के निर्माताओ मे हमारी सहपाठिनी का भी नाम हो जाता और उनका यथोचित प्रचार हो जाने पर, छेड़-छाड़ करने की कौन कहे, कोई मर्द किसी औरत की ओर आँख उठाकर देखने का भी दुस्साहस कभी न करता!

"पर, खैर! यह समय सोच-विचार का नहीं, कुछ कर गुजरने का था। कुछ भी था, मैं फिर भी उन सुकुमारियो मे से न थी, किसी गुण्डे का साक्षात्कार होते ही जिनके हाथ-पाँव फूल जाते है, यहाँ तक कि वे सहायता के लिए मुँह से आवाज तक नहीं निकाल सकतीं; चाहे लुट भले ही जायँ।

"यद्यपि मैंने सिर मोड़-मोड़कर बार-बार पीछे की ओर देखा नहीं—जान-बूझकर नहीं देखा, तथापि मैं कान लगाकर पीछा करने वाले की पग-ध्वनि बराबर सुनती रही, जिससे मुझे उसके और अपने बीच की दूरी का आभास अनुमानतः मिलता रहा।

"वह दूरी उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी, और, मैं मन-ही-मन अपने स्कूल-जीवन की पुरानी 'स्पिरिट' को जगाती जाती थी।

"पहली दृष्टि में मैंने उस युवक को वैसा न समझा था। मेरे मन पर पहले-पहल जो छाप पड़ी थी, उसकी सुन्दरता पर ख़ुद उसने अपनी हरकत से पानी फेर दिया। मैं क्या करती?

"कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मेरी प्रशंसात्मक दृष्टि से उसने अनुचित प्रोत्साहन प्राप्त कर लिया हो? जो भी हो, मैंने पक्का इरादा कर लिया था कि उसकी कटुस्मृति के लिए यह साबित कर दूँगी कि प्रत्येक सुन्दर लगने वाली नारी पुरुष वर्ग के हाथ की सजी-सजाई गुड़िया ही नहीं हुआ करती, नारीत्व की वाटिका में उगने वाला प्रत्येक पौधा छुई-मुई का ही नहीं हुआ करता। उसके हृदय से यह भ्रम दूर करना मेरा एक कठोर कर्त्तव्य था, विशेषतः इसलिए कि मैं सिंहनी-संघ की एक भूतपूर्व माननीया सदस्या थी।

"पहले यह बतलाऊँ कि इसके पहले क्या बीती थी।

"पार्क में अन्ततः वक्ता ने स्वर मन्द करके अपना जोशीला भाषण समाप्त किया, और, सभापति महोदय ने धन्यवाद के चार शब्द कहकर सभा के विसर्जन की घोषणा की।

"अभी जनता की करतल-ध्वनि वायु में विलीन भी नहीं हुई थी और पक्के मञ्च पर परस्पर सटकर बैठे हुए असंख्य लोग अभी उठ भी न पाये थे कि कुछ उत्साही नवयुवकों के एक जत्थे ने चारों ओर से एकदम मञ्च पर धावा बोल दिया। प्रत्येक के ऊँचे उठे हुए हाथ में एक-एक नोट-बुक थी, एक-एक फाउण्टेनपेन या पेन्सिल थी। सभी पण्डितजी का ऑटोग्राफ प्राप्त करने के लिए, मुँह खोले हुए, लालायित थे। हस्ताक्षरों के ये शिकारी भी विचित्र होते हैं।

"किन्तु, पण्डितजी बड़े कट्टर निकले। वे इस गड़बड़ी को सहन न कर सके, बिगड़ खड़े हुए। किसी को उन्होंने झिड़की दी, किसी के उठे-बढ़े हाथ को झटक दिया और न जाने कितनों को ऐसे धक्के दिये कि वे बेचारे लड़खड़ाकर बड़ी कठिनाई से अपने को सँभाल सके। नोट-बुकें तो कइयों की इधर-उधर जा पड़ीं।

"एक नवयुवक सचमुच ही नीचे आ गिरा जहाँ पास ही मैं बैठी थी। परन्तु, वाह रे बहादुर! दूसरे ही क्षण वह उठ खड़ा हुआ और कुर्ते के पिछले भाग को झाड़कर फुर्ती के साथ फिर ऊपर चढ़ गया।

"यद्यपि हस्ताक्षर-संग्रह के सारे प्रेमियो को निराश होना पड़ा, पंडितजी ने किसी की एक नही सुनी, भौहे सिकोड़े, मत्थे मे बल डाले हुये मच की सीढ़ियो पर से खटाखट नीचे उतर आये, और असफल नवयुवकों का जत्था तितर-बितर हो गया, तथापि जो युवक गिर पड़ा था उसने तब भी पंडितजी का पीछा न छोड़ा था। धुन का पक्का जान पड़ता था।

"पंडित जी डाटते जाते थे और वह गिड़गिड़ाता जाता था। इतने पर भी उसने हिम्मत नहीं हारी, यह प्रशंसा की बात अवश्य थी, पर, मुझे युवक के इस हठीले व्यवहार पर आश्चर्य होता था।

"मै यह नही कहती कि यह शौक, हस्ताक्षर-संग्रह का, बुरा है। उलटे, मै इसे आधुनिक युवक के बहुत से शौक़ो से लाख दर्जे अच्छा समझती हूँ और इसके उच्च आदर्श की सराहना भी करती हूँ, किन्तु, इसके यह मानी नही कि इस शौक के पीछे कोई एकदम पागल हो जाय। हर चीज़ की एक सीमा होती है। अच्छाई के भी प्रेम की अति वर्जित होनी चाहिए अस्तु!

"कुतूहल-वश मैं भी पीछे-पीछ चलने लगी।

"'सच कहता हूँ पंडितजी,' उसने कहा, 'यदि आपने अपने हस्ताक्षर मुझे न दिये तो मुझे बड़ा दुःख होगा।'

"'मैने जब सबसे इनकार कर दिया तब तुम्हारे लिए कैसे कर सकता हूँ?' पडितजी ने झिड़क दिया।

"युवक ने अपने केस को बहुत विशिष्ट बतलाया और कहा, 'मैं प्रार्थना करता हूँ ..।'

" 'मै कुछ नहीं जानता,' पडितजी झुँझलाकर बोले।

"तब उसने पाँच रुपये का एक नोट निकाला और कहा, 'गाँधीजी पाँच रुपये मे एक दस्तखत कर देते है। आप भी कर दीजिए।'

" 'तुम पाँच सौ दो तो भी अब मै दस्तखत न करूँगा।'

" 'मान जाइए पंडितजी,' वह अपनी गाता गया, 'मेरे हाल पर तरस खाइये। आप जानते नही ।'

" 'तँग मत करो,' पडितजी ने कठोरता पूर्वक कहा, 'जाओ।'

"पर, फिर भी उसने आशा नहीं छोड़ी।

'पार्क के छोटे-से फाटक पर भीड़ इतनी थी कि बिना धक्के खाये हुए कोई पार नही हो सकता था। मै इधर ही रुक गई।

"और वह शायद पंडितजी की मोटर तक गया। मगर थोड़ी ही देर मे, आँखो से किसी को खोजता हुआ-सा, वह फिर वापस आ गया, लोगो को ठेल-ठालकर। उसकी कमीज कन्धे पर फट गई थी। मुझे देखकर वह पास ही रुक गया और बार-बार अपना सिर खुजलाकर कुछ सोचने लगा। उसके चेहरे के पीलेपन से लगता था कि सफलता उसे नहीं मिल सकी। उसके सोचने के ढङ्ग से और बारंबार मेरी ओर देखने के व्यवहार से लगता था कि जैसे वह मुझे मार्क करने की चेष्टा-सी कर रहा

था। हो सकता है, उसने मुझे कभी कहीं देखा हो। पर मैं उसे बिलकुल जानती-पहचानती न थी। होगा कोई, मैंने मन में कहा।

"अन्ततः भीड़ छटी तो मैं भी बाहर निकली। इक्के-तॉगे वालों ने सवारियों की अधिकता देखकर मनमाना भाव किराये का लगा रक्खा था। इसलिए मैं पैदल ही चल पड़ी।

"आगे चलकर जाना कि वह युवक भी पीछे-पीछे आ रहा है। मेरे कान खड़े हो गये। उसने पंडितजी को अपने जिस अदम्य साहस का परिचय दिया था उसका विचार करते हुए मेरे लिए यह कान खड़े करने की ही बात थी।

"मैं अकेली निकली थी तो कलेजे में कुछ साहस लेकर ही निकली थी। फिर भी किसी अज्ञात आशंका की कल्पना मुझे घबराने के लिए बाध्य कर रही थी। लोग ऐसे अवसरों पर हनुमानजी का नाम जपते हैं, मैं 'अभयाजी-अभयाजी' करती रही।

"मेरे आगे कुछ दूरी पर तीन व्यक्ति आपस में व्याख्यान की आलोचना करते हुए चले जा रहे थे। मैंने अपनी चाल कुछ तेज की। सोचा, इन लोगों के निकट होकर चलने में खतरा कम हो जायगा। जब मैं जल्दी-जल्दी चलने लगी तब, मैंने कनखियों से देखा, युवक ने भी अपने पैर बढ़ाये। आगे चलकर मुसीबत यह हुई कि अगले तीनों व्यक्ति बॉई ओर की सड़क पर मुड़ गये और मुझे सीधे आना था। अब एकदम सन्नाटा था। मेरी घबराहट बढ़ गई। अवसर देखकर युवक बहुत समीप आकर लगभग साथ-साथ चलने लगा। कुछ देर तक तो कुछ

नहीं बोला, केवल गला साफ करने की चेष्टा-सी करता रहा। किन्तु अन्त मे उसने कहा, 'जी !'

"मै दम साधे रही।

" 'जी,' उसने फिर कहा, 'मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ।'

" 'मैं कुछ सुनना नही चाहती,' मैंने हिम्मत करके कहा।

" 'क्यो ?' उसने पूछा।

" 'क्या यह आवश्यक है कि कोई स्त्री किसी अपरिचित से बाते करेग ?' मैंने भी पूछा।

" 'मेरे मन मे क्या है, आप नही जानती।'

" 'न जानना चाहती हूँ।'

"उससे मै बाते करती जाती थी, किन्तु अपनी चाल को भरसक तेज रखने के लिये बराबर प्रयत्नशील थी। चाहती थी कि किसी प्रकार शीघ्र से शीघ्र इस सुनसान सीमा के बाहर हो जाऊँ। यो मेरे शरीर पर कोई विशेष गहने न थे। परन्तु स्त्रियॉ केवल आभूषणो के लिए ही नही संकट मे पड़ती।

"युवक ने फिर कहा, 'देखिए।'

"मैंने उधर नही देखा।

" 'देखिए,' वह कहता गया. 'आप पहले सुन लीजिए कि मै क्या चाहता हूँ, तब कहिए।'

" 'मै कुछ कहना-सुनना नही चाहती।'

" 'जरा-सी बात है और आप इतना बिगड रही हैं ?'

"मेरा क्रोध भड़क उठा। 'क्या ज़रा-सी बात है?' मैंने तड़प कर प्रश्न किया।

" 'अपने कर-कमल से इस पर दो अक्षर लिख दीजिए,' उसने अपनी नोटबुक और फाउण्टेनपेन मेरी ओर बढ़ा कर कहा।

"मैं पुरुषों की इन चालों को भली भाँति समझती थी। 'कर-कमल'—क्या कहना है! आज कर-कमल की बात है, कल मुख-चन्द्र की होगी।

" 'मै आपके ऑटोग्राफ का इच्छुक हूँ,' उसने अपने स्वर को यथासम्भव मधुर करके कहा।

" 'और कल फोटोग्राफ के इच्छुक होंगे,' मैंने मुँह बिगाड़ कर कहा।

" 'जी नहीं, जी नहीं,' वह अप्रतिभ हो कर बोला।

"पर, मैं यह कभी नहीं मान सकती थी कि यह प्रेम हस्ताक्षर-संग्रह था जिसके लिए वह मेरे पीछे पड़ गया था। 'जी नहीं, मुझे क्षमा कीजिए,' मैं बोली।

"बातों ही बातों मे गोल-मटोल टाल-मटूल करके मै राह काट देना चाहती थी और इसमे सफल भी हुई।

" 'मान जाहिए,' उसने पुनः अनुरोध किया। मै अब अपने फाटक पर पहुँच चुकी, थी, बोली, 'बदतमीज़ कहीं का!'

× × ×

श्रीमतीजी ने अपना बयान ख़त्म किया।

मैंने युवक से कहा "आप क्या कहते हैं मिस्टर? आपने क्या समझकर इनको तंग करने का साहस किया था? और अब आप के साथ क्या व्यवहार किया जाय, यह बतलाइये?"

"क्या तमाशा है!" वह बोला, "स्त्रियो की समझ भी क्या होती है!"

और उसने बतलाया, "मेरे यहाँ एक ग्रूप फोटो है जिसमे एक लड़की की तस्वीर आपकी श्रीमतीजी से मिलती-जुलती-सी है।"

"तो इससे आपसे क्या मतलब?" मैंने प्रश्न किया।

"जी," वह बोला, "मैं जानना चाहता था कि क्या वह आपकी श्रीमतीजी का ही चित्र है।"

मै विचित्र चक्कर मे पड़ गया। बोला, "हो भी तो आपसे क्या?"

"यदि ऐसा है तो मेरा बड़ा काम बन सकता है," उसने बिना किसी भय के कहा।

मैं पहले सारी बात समझ लेना चाहता था, तब कोई कार्रवाई करना चाहता था। इसलिए बोला, "वह फोटो कहाँ का है, कैसा है?"

"जी," उसने आशा-पूर्वक कहा, "महिला-कॉलेज का है, सन् ३६ के फ़ाइनल के ग्रुप का।"

"हाँ मैं उस साल वहाँ थी," श्रीमतीजी ने सूचित किया।

"आपको अभयाकुमारी नाम की एक लड़की की याद है ?" युवक ने पूछा।

"अभयाजी ? भला मैं उन्हे कब भूल सकती हूँ ?"

"तब मेरा संकट कट गया," उसने ठण्ढी साँस लेकर कहा। "मेरा अनुमान ठीक था।"

अब उसने अपनी नोट-बुक निकाली और कहा, "पण्डितजी ने ऑटोग्राफ़ नही दिया, कोई परवाह नहीं। मुझे उनके हस्ताक्षर की चिन्ता नही।"

नोटबुक मेरे हाथ मे रखकर उसने अनुरोध किया, "कृपया अपनी श्रीमतीजी से कहिए, अब हठ न करे, इस पृष्ठ पर अपने हस्ताक्षर कर दें।"

कहाँ पण्डितजी के ऑटोग्राफ की बात और कहाँ मेरी श्रीमती का ऑटोग्राफ! पहेली मेरी समझ मे ज़रा भी न आई।

"आपका मतलब क्या है ? स्पष्ट कहिए।"

"अब भी आप नही समझे ?"

"क्या आपके कहने का मतलब यह है कि आपने जो श्रीमती जी का पीछा किया था, वह केवल ऑटोग्राफ़ के लिये किया था ?"

"जी हाँ, जी हाँ !"

"आप भी खूब हैं ! भला सोचिए तो इन बेचारी के हस्ताक्षर का क्या मूल्य ? ये कोई सिनेमा-नटी तो है नहीं।"

"अभयाजी की सहपाठिनी तो है।"

"तो ?"

"आप जानते नहीं," उसने कहा, "मेरा विवाह अभयाजी के साथ हुआ है।"

"प्रसन्नता की बात है," मैंने कहा, "पर वे भी इनके हस्ताक्षर का क्या करेंगी ?"

"जी," उसने स्पष्टीकरण किया, "पण्डितजी ने हस्ताक्षर नहीं किया, इसलिए इनका हस्ताक्षर आवश्यक हो गया है।"

"यह क्यों ?" मैंने पूछा।

"कैसे बतलाऊँ ?" वह किसी संकोच में पड़ा था।

फिर स्वर धीमा करके कहा, "मुझे कोई न कोई प्रमाण देना होगा कि मैं पण्डितजी का व्याख्यान सुनने ही गया था, और कहीं नहीं।"

"ओह !" मैं गम्भीरतापूर्वक बोला।

कहना न होगा कि श्रीमतीजी ने हस्ताक्षर कर दिया, साथ ही प्रमाण-पत्र के तौर पर यह भी लिख दिया कि 'आपके श्रीमान्‌जी ५ बजे सायंकाल से लेकर ८॥ बजे तक मेरी

निगरानी में रहे। इसी बात पर मैं आपको कल चाय-पानी के लिये आमंत्रित करती हूँ।'

मैंने श्रीमतीजी से कहा, "लो, हिन्दुस्तानी गृहस्थी के हिटलरों की सताई हुई बेचारियों में से एक और का पता तुम्हें मिल गया।"

श्रीमती क्या उत्तर देतीं ?

और, मैं मन-ही-मन हस्ताक्षर-संग्रह के इतिहास के आदि-अन्त की विवेचना करने लगा।

जन्म-दिन का उपहार

"आप हैं मिसेज़ बहादुर," मेरी श्रीमती ने कहा, "और ये मेरे हसबेण्ड।" पति-देव या पति मात्र कहने मे उन्हे संकोच का अनुभव होता था।

इसके पहले कि मैं बोल सकूँ, मिसेज़ बहादुर ने बड़े तपाक से कहा, "आपसे मिलकर बेहद ख़ुशी हुई।" और अपना सुकोमल कर-कमल मेरी ओर बढ़ा दिया।

× × ×

आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के वातावरण में पली हुई लड़कियों से विवाह करने का प्रस्ताव सुनकर अनेक युवक सचमुच कान पकड़ते हुए देखे गये हैं, और इस क्रिया विशेष का प्रचार इस देश मे बढ़ता ही जा रहा है। हम अंग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति की अन्य किसी देन के लिए चाहे उसके कृतज्ञ न हों,

किन्तु, कम से कम, इस बात के लिए उसे धन्यवाद अवश्य देंगे कि उसकी कृपा से देश की देवियों को आवश्यकता से अधिक स्वच्छन्दता मिली और उस स्वच्छन्दता से देश के देवताओं को मिला उपासना का विस्तृत क्षेत्र।

जिनका पाला उच्च शिक्षा-प्राप्त श्रीमतियों से पड़ चुका है, वे अनेक कारणों से आधुनिक शिक्षा के प्रसारकों का उत्साह-वर्द्धन करना न चाहेंगे। परन्तु, वे इस बात से कभी इनकार न कर सकेंगे कि जहाँ अनेक काँटे हैं, वहाँ एक फूल भी है, छोटा-सा। वह है श्रीमती की सखी-सहेलियों के रूप में शिक्षित-समाज की अन्यान्य प्रकाशित तारिकाओं से सुपरिचित होने के सुअवसरों से लाभान्वित होने का सुयोग।

मधु-मक्खियों के दंशन की पीड़ा से व्यथित व्यक्ति को थोड़ी-सी भी मधु मिल जाती है तो उसे बहुत सन्तोष होता है। मिसेज़ बहादुर के परिचय से मुझे भी हुआ।

× × ×

उन दिनों मेरी श्रीमती की गोद भरने वाली थी। यह हमारे लिए कोई नई बात न थी। हाँ, राशनिङ्ग के अधिकारियों के लिए अवश्य चिन्ताजनक हो सकती थी। पर, खैर, अभी कई महीने की देर थी। तब तक सर रामास्वामी मुदलियर और सर नाज़िमुद्दीन अमरीका से अपनी झोली और कमण्डल में भर कर कुछ न कुछ लायेंगे ही, ऐसी आशा थी।

नये बच्चे की आशा मे श्रीमतीजी दिन-रात अपने मे ही कुछ गुनगुनाया करती थीं। इससे जो समय बचता, वह पुराने बच्चो की देख-भाल मे लग जाता था। बच्चो का बाप जैसे कुछ था ही नही।

मैं झुँझलाकर रह जाता।

ऐसे समय मे मिसेज बहादुर का परिचय मेरे लिए मरुभूमि का 'ओसिस' सिद्ध हुआ।

श्रीमती की सहेलियो मे मिसेज़ बहादुर मुझे सबसे अधिक शिक्षित, संस्कृत, सुन्दर और मधु-भाषिणी लगी। वे नई-नई विश्व-विद्यालय के फाटक से होकर विवाह के आँगन मे आई थी।

मेरा परिचय क्रमशः आगे बढ़ा, मैत्री मे परिवर्तित हुआ। मैत्री बढ़ी, घनिष्ठता मे परिवर्तित हुई। और, क्रमशः, घनिष्ठता बढ़ कर कुछ-कुछ प्रेम मे परिवर्तित हुई।

मिसेज़ बहादुर के यहाँ मेरा आना-जाना बहुत बढ़ गया। फिर भी, प्रसन्नता की बात थी, मेरी श्रीमती को किसी प्रकार का सन्देह न हुआ। उधर, मिस्टर बहादुर की ओर से भी सन्देह की आशा न थी। उनके निकट अपनी नई बीवी और नई वकालत मे से दूसरी मे—नई वकालत मे—अधिक आकर्षण था। दूसरे, यदि वे कुछ सन्देह करते भी तो कोई डर न था। वे मिसेज़ से इतना दबते थे कि बोल नही सकते थे।

मैंने सोचा, श्रीमती बहादुर को कोई वस्तु भेंट करनी चाहिए। वह ऐसी होनी चाहिए, जिससे, बिना कहे, भावनाएँ अपने आप प्रकट हो जाय।

श्रीमतीजी की चोरी से मैंने सेविंग्स-बैंक मे लगभग सत्तर रुपये इकट्ठे कर रखे थे। बासठ की एक बनारसी साड़ी मिली रेशमी चीज़ थी, छोटे-से बंडल मे आ गई। वह कोट की जेब मे से मेरे तकिये के गिलाफ मे आसानी से पहुँच गई। और दिन दोपहर के बाद मिसेज़ बहादुर के यहाँ पहुँचाने का अवसर अच्छा था।

सबेरे चाय के समय पीछे से किसी ने एक हाथ से मेरी आँखे मूँद ली।

मैंने कहा, "तुम हो !"

"हाँ, मै हूँ," श्रीमती ने कहा, "बूझो मेरे दूसरे हाथ में क्या है।"

मैंने कहा, "होने वाले बच्चे के लिए स्वेटर होगा।"

पर, नहीं, वह बनारसी साड़ी का बंडल था।

"तुमने मुझे अचम्भे मे डाल कर छकाना चाहा था," श्रीमती प्रसन्नता से बोली, "मैंने तुम्हें अचम्भे में डाल दिया।"

फिर उन्होने तकल्लुफ के साथ कहा, "इस महँगी मे इतनी महँगी चीज़ लेने को क्या ज़रूरत थी ? तुम बड़े 'वह' हो।"

मैंने कहा, "मैं तुम्हे अचम्भे में डालना चाहता था।"

इस प्रकार इस आश्चर्योपहार की कहानी का अन्त हुआ।

× × ×

जन्म-दिन का उपहार

"आज के चौथे दिन मेरा जन्म-दिन है," मिसेज़ बहादुर ने मुझे एक दिन बतलाया।

"मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई," मैंने कहा और मेरी आँखों के आगे बनारसी साड़ी नाच गई। मैं अब हाथ मलने के अतिरिक्त और क्या कर सकता था ?

पर, मैं यों हार मान कर बैठ रहने वाला मनुष्य न था। मैंने निश्चय किया, मैं किसी मित्र से कुछ रुपये उधार लूँगा।

मैं मिसेज़ बहादुर से खुलकर बातें करने लगा था। मेरे अन्दर का बाँध 'कुछ' प्रकट करने के लिए टूटा जा रहा था। मेरे साहस को अवसर की बात से प्रोत्साहन मिला, और, मैंने झटपट कह दिया, "अंग्रेज़ों के यहाँ जन्म-दिवस के अवसरों पर भेंट-उपहार दिये जाते हैं।"

कोई दूसरा प्रेमोपहार देने के बहाने की यह भूमिका थी मेरी। मिसेज़ को मेरा मतलब समझते देर नहीं लगी। जहाँ तक प्रेम की भावनाओं का सम्बन्ध है, स्त्री पुरुष से अधिक चतुर और समझदार होती है।

मिसेज़ बहादुर बोलीं, "हमारा शिक्षित वर्ग अंग्रेज़ों से क्या कम है ?"

कितनी चतुराई की स्वीकृति थी यह ! कैसी सफाई से दी गई !

इस बात से मुझे बिना माँगे इच्छित उपहार देने का अवसर मिल गया। इसे मैं किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता था।

अवसर देकर मिसेज़ बहादुर ने अपने प्रेम के भेद को मुझ पर प्रकट कर दिया ।

उन्हें अपने शिष्ट आचरण से प्रसन्न करने के लिए मैंने पूछा, "आप अपने जन्म-दिन पर क्या उपहार पाना पसन्द करेंगी ?"

बहुत हीला-हवाला करने के पश्चात् उन्होंने इयर-रिंग बतलाया ।

इस प्रकार उनकी स्वीकृति से मुझे कुबेर की सम्पत्ति मिल गई ।

दूसरे की पत्नी को उपहार दे सकना इस देश मे कम भाग्य से नहीं होता ।

कहते है, प्रेम एक प्रकार का 'खोना' है । मै मान गया और अनुभव से जान गया कि मानव प्रेम मे हानि को लाभ समझ कर प्रसन्न होता है । एक जोड़ा इयर-रिंग बनवाने मे, उधार लेकर, मैंने अपनी एक मास की आय गला दी और सन्तुष्ट इतना हुआ जैसे इस महीने मुझे दो मास का वेतन मिल गया ।

भेंट पाकर मिसेज़ बहादुर ने अनेक धन्यवाद दिये । फिर कहा, "इसकी बात अपनी उनसे न कहिएगा ।"

मैंने विश्वास दिलाया । भला मै कैसे कह सकता था ?

"हाँ," उन्होंने हँसकर कहा, "नहीं तो वे मेरे सिर का एक भी बाल न छोड़ेंगी !"

मैंने कहा, "मेरे सिर के वाल छोटे अवश्य हैं, फिर भी आप-को ऐसा न सोचना चाहिए कि मैं स्वयं कभी गञ्जी खोपड़ी वाला होना पसन्द करूँगा।"

दो गले की हँसी एक हुई।

"और आप भी अपने उनसे न कहिएगा," मैंने जवाबी अनुरोध किया।

"मैं क्यों न कहूँगी?" उन्होंने शरारत-भरे स्वर मे पूछा।

"तव क्या आप मिस्टर वहादुर और मुझसे फौजदारी कराना चाहती है?" मैंने पूछा।

"क्या आप डरते है?"

"नहीं—नहीं—मगर—"

"अच्छा, न कहूँगी," उन्होंने अन्त मे कहा।

"यदि वे पूछेंगे कि यह इयर-रिंग कहाँ से मिला, तव?"

"कह दूँगी, मेरी माँ ने बनवाकर भेजा है।"

"यह ठीक है," मैंने मिसेज वहादुर की गोरी गरदन को एक ओर वा के गुलावी आकाश पर चमकते सूर्य-जैसे इयर-रिंग पर दृष्टि गड़ाकर कहा।

मिसेज़ ने सिर पर से साड़ी के पल्ले को दोनो ओर से खींच कर कान ढक लिये।

मैंने कहा, 'क्या आपको भय है कि मेरी नज़र लग जायगी?"

उन्होंने, बस, मुस्करा दिया।

× × ×

चार उसे मिल जाते थे।

तीन-चार वर्षों में उसके हृदय में बहुत-सा प्रेम इकट्ठा हो गया था, और चाहता था कि अब उसका प्रदर्शन हो।

मानव-हृदय दुर्बल है। उसमें कमजोरियाँ भरी पड़ी हैं। जब कमजोरियाँ दूर हो जाती हैं तो आदमी देवता बन जाता है।

रामधन ने निश्चय कर लिया कि अब श्रीमती जी और बच्चों को अधिक कष्ट न उठाने देगा।

(६)

संध्या हो चली थी। सूरज अस्ताचल में पहुँच चुका था और पश्चिमी आकाश लाल-लाल बड़ा सुन्दर दिखाई दे रहा था। दिन भर के थके आदमी काम छोड़ कर घर लौट रहे थे। वास्तव में दिनभर के बिछुड़े सभी आपस में मिलने को व्याकुल थे।

इसी संध्या को रामधन भी अपनी सुसराल पहुँच गया। उसकी व्याकुलता की सीमा नहीं थी। वर्षों से उसने अपने बच्चों को नहीं देखा था।

× × ×

भूखे भिखारी ने द्वार पर टेर लगाई—

"भगवान सब को बनाए रक्खें! ईश्वर के नाम पर कुछ